शक्तिपुत्र



वर्ष १ अंक ३

ज्येष्ठ २०२२
जून १९६५

मूल्य एक प्रति ६० पैसे
वार्षिक ७ रु०
(विशेषांकों सहित)

सम्पादकीय कार्यालय
लड्डू घाटी, पहाड़गंज
नई दिल्ली-१

व्यवस्थापकीय कार्यालय
६, डिप्टीगंज, सदर बाजार,
दिल्ली।

एक दृष्टि में

प्रधान सम्पादक
चिरंजीव शास्त्री
★
प्रकाशक
कैलाशचन्द्र
★
सज्जाकार
नाना वाघ

परामर्शदाता
डा० लोकेशचन्द्र
श्री गुरुदत्त

शक्तिपुत्र

शभक्ति, त्याग, बलिदान, पराक्रम का प्रेरक कथा-मासिक

सच पूछो तो शर में ही
बसती है चमक विजय की।
संधि-वचन संपूज्य उसी का
जिसमें शक्ति विजय की ॥
—दिनकर



मैं मांग न सका

स्वामी विवेकानन्द

प्रखर तार्किक मेधा का धनी था तरुण नरेन्द्र। चिर दिन माँ के प्रेम में पागल विभोर परमहंस के आँसुओं की वह खिल्ली उड़ाया करता था। माँ की मूर्ति के आगे झुकने को वह एक मिथ्या अन्ध-विश्वास समझता था।……उसी बुद्धि के प्रचण्ड अभिमानी नरेन्द्र को माँ की एक ही स्नेह-चितवन ने कैसे झुका दिया, यह उत्तरकाल के नरेन्द्र, स्वामी विवेकानन्द के मुंह से ही सुनिये।



उन दिनों मेरे घर की हालत पिताजी के अचानक गुजर जाने से बड़ी चिंताजनक हो गई थी और मैं नौकरी की तलाश में दिन-दिन भर धूप में भूखा-प्यासा भटकता था।

अंत में बड़ी दौड़-धूप के बाद मैं एक वकील के यहाँ मुन्शी का काम करके और कुछ पुस्तकों का भाषांतर करके थोड़ा-बहुत पैसा कमाने लगा, लेकिन आय का कोई निश्चित साधन न रहने से घर की स्थिति ज्यों की त्यों रही। क्या किया जाय कुछ समझ में नहीं आता था। एक दिन सोचा कि श्री रामकृष्ण की बात तो ईश्वर मानते हैं, उन्हीं के पास धरना देकर बैठना चाहिए। इस विचार से मन में स्फूर्ति आयी और तत्काल ही मैंने दक्षिणेश्वर की राह ली।

श्री रामकृष्ण के पास पहुंच कर मैंने कहा, 'महाराज! मेरे घर के लोगों के लिए अन्न वस्त्र की व्यवस्था कर देने के लिए आप को जगदम्बा से प्रार्थना करनी होगी! मैं उन का कष्ट और नहीं देख सकता।' श्री राम-कृष्ण ने बड़े प्रेम से कहा, 'नरेन्! तू तो माता को नहीं मानता, इसलिए इतना कष्ट पाता है। माता से तेरे बारे में मैंने कितनी ही बार कहा, किन्तु वे इस ओर ध्यान भी नहीं देती।

आज मंगलवार है। मैं कहता हूँ, तू आज रात को माता के मन्दिर में जा, उसे प्रणाम कर और जो चाहिए सो मांग ले। मेरी मां चिन्मयी ब्रह्मशक्ति है-केवल इच्छा मात्र से संसार का निर्माण करने—वाली ! वह क्या कुछ नहीं कर सकती।'

इस आश्वासन से मेरे मन में दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो गया और मैं अत्यंत अधीरता से रात की प्रतीक्षा करने लगा। एक प्रहर रात्रि बीतने पर श्री रामकृष्ण ने मुझे माता के मन्दिर में जाने को कहा। उस वक्त एक विचित्र प्रकार का नशा मुझ पर छा गया था, पैर थर-थर काँप रहे थे और इसी भावना में कि अब मुझे माता के दर्शन होंगे, उनके शब्द सुनने को मिलेंगे, मैं अन्य सभी चिन्ताओं को भूल गया। जब मन्दिर में गया तो यही दिखाई दिया कि माँ सचमुच चिन्मयी हैं, वे जीवित हैं और उनके शरीर में से रूप, प्रेम, लावण्य, करुणा मानो प्रवाहित हो रहे हैं। यह देख कर भक्ति और प्रेम से मेरा हृदय भर आया और मैं विह्वल होकर गद्‌गद अन्तः-करण से बारम्बार प्रणाम करते हुए कहने लगा, 'माँ विवेक दे, वैराग्य दे, ज्ञान दे, भक्ति दे और जिस प्रकार मुझको तेरा दर्शन निरन्तर होता रहे वही उपाय कर।' इससे मन को बड़ी शान्ति मिली। जगन्माता के सिवाय और सभी विचारों को मैं भूल गया और अत्यंत प्रसन्नता के साथ श्री रामकृष्ण के कमरे की ओर लौट आया।

मुझ को देखते ही उन्होंने पूछा, 'क्यों रे, साँसारिक कष्टों को दूर करने के लिए तूने माँ से प्रार्थना की ?' इतना सुनते ही जैसे मुझे फिर से होश आया और मैं कहने लगा 'अरे ! मैं तो सचमुच ही सब कुछ भूल गया, अब क्या करूं ?' श्री रामकृष्ण बोले, 'जा पुनः प्रार्थना कर !' मैं पुनः मंदिर में गया, लेकिन जगन्माता के सामने जाते ही सब-कुछ भूल कर भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की ही प्रार्थना कर लौट आया। इस प्रकार तीन बार मैं मंदिर गया लेकिन तीनों बार सांसारिक सुखों की माँग माँ के पास नहीं कर सका। मुझे लगा कि ऐसी क्षुद्र बात मैं जगन्माता से कैसे कहूँ ? यह ऐसा ही हुआ जैसे राजा के पास जाकर कुम्हड़ा मांगना ! मुझे बड़ी लज्जा लगी। माता से मैं केवल ज्ञान और भक्ति की ही प्रार्थना कर सका।

श्री रामकृष्ण के कमरे में जाकर मैंने कहा, 'अब आप ही को मेरे लिए प्रार्थना करनी होगी। यह सब आप ही का खेल है !', इस पर वे बोले, 'क्या करूं रे ! मैं किसी के लिए भी ऐसी प्रार्थना आज तक नहीं कर सका। ऐसी बात मेरे मुँह से निकलती ही नहीं। इसी लिए तो तुझे कहा था कि तू खुद जाकर माँ से जो चाहिए सो मांग ले। माता तुझे वह वस्तु अवश्य देगी। पर तेरे भाग्य में संसार-सुख नहीं है, मैं क्या करूं ?'

फिर भी मैं चुप बैठनेवाला थोड़े ही था मैंने उनसे पुनः निवेदन किया कि आपको इतनी बात तो मेरे लिए करनी ही होगी, मुझे विश्वास है कि आप यदि चाहेंगे तो सब कुछ हो जाएगा। उन्होंने जब देखा कि यह किसी भी तरह नहीं मानता तो कहने लगे, 'अच्छा, जा ! तुम लोगों को रूखे-सूखे अन्न और मोटे वस्त्र की कभी कमी नहीं रहेगी !', और तब से हमारी सभी कठिनाइयाँ दूर हो गयीं।

राजतिलक की भूमिका

—: परमानंद गोविन्द जीवाला :—

औरंगजेब ने सन्धि के वचन के विरुद्ध शिवाजी को कैद कर लिया और उसे छका कर एक दिन छत्रपति मिठाई के टोकरे में बैठकर बाहर निकल गए। मथुरा, काशी, प्रयाग, पुरी आदि की यात्रा करते हुए वे स्वराज्य की ओर चल पड़े।

संध्या का समय था। जंगल से लौटती गायों के झुण्ड गाँव की ओर जा रहे थे। गोधूलि की इस वेला में आठ दस सन्यासियों के समूह ने गाँव में प्रवेश किया। सभी के सिर मुंडे थे। उनके हाथों में चिमटे, कुबड़ियां, तथा कमण्डल थे, गले में रुद्राक्ष की मालायें थीं। सभी ने पैर तक लम्बी कफनियां पहनी थीं। 'जय सीताराम, जय सीताराम' का भजन करते हुए वे जा रहे थे। तभी एक झोंपड़ी का द्वार खुला और एक बुढ़िया ने पुकार कर कहा, "बाबा, इधर आना।" सभी बाबा लोग रुक गए और बुढ़िया की ओर देखने लगे। बुढ़िया ने पुनः कहा "पधारिए महाराज, पधारिए। आज शाम का आतिथ्य ग्रहण कर मुझे पावन कीजिए।"

सन्यासियों ने एक दूसरे की ओर देखा और पश्चात् झोंपड़ी के द्वार पर आ गये।

"भीतर विराजिये। मैं अभी सामान लेकर आती हूं", कह कर बुढ़िया चली गई।

"गुरुदेव आप यहाँ विराजिये" द्वार के भीतर प्रवेश करते हुए एक सन्यासी ने कहा।

"महाराज, अब यह विडम्बना समाप्त होनी चाहिये। सम्पूर्ण भारतवर्ष में आज श्री समर्थ स्वामी को छोड़ कर कौनसा व्यक्ति है जो आपका गुरु बनने के योग्य हो? नीराजी तो अपने आपको केवल आपका शिष्य मानता है। इस अभिनय से मुझे कितना मानसिक कष्ट होता है, मैं कैसे कहूं? तानाजी, येसाजी, तुम ही कहो मैं ठीक कह रहा हूं?" नीराजी पंत ने आशा-भरी दृष्टि से बाकी मंडली की ओर देखा।

"साक्षी और सबूत की आवश्यकता नहीं। यह मत भूलो कि अभी हम रायगढ़ नहीं पहुंचे हैं। हां, तो गुरुदेव पधारिये" छत्रपति ने हंसते हुए कहा।

नीराजी पंत ने बुरा सा मुख बनाया और इंगित स्थान पर बैठ गये। उनकी लाचारी को देखकर सभी लोग हंस पड़े।

"क्षमा करना महाराज, देर हो गई। रसोई अभी बनाती हूं।" बुढ़िया ने द्वार में प्रवेश करते हुए कहा।

"आराम से होने दो मां", पंत ने उत्तर दिया।

बुढ़िया ने चूल्हा जलाते हुए प्रश्न किया "महाराज, सुना था कि छत्रपति कैद हो गये थे और फिर अब सुना है कि वे कैद से निकल गये हैं। आपको कुछ पता है महाराज ?"

पंत ने सतर्कतापूर्वक उत्तर दिया "मां हम लोग बहता पानी, रमता जोगी ठहरे। हमें राज-काज से क्या मतलब !"

"नहीं, नहीं महाराज, मैं तो वैसे ही जानना चाहती थी।" कुछ देर मौन रह कर पुनः बुढ़िया ने कहा "महाराज, यदि आज्ञा हो तो एक शंका है।"

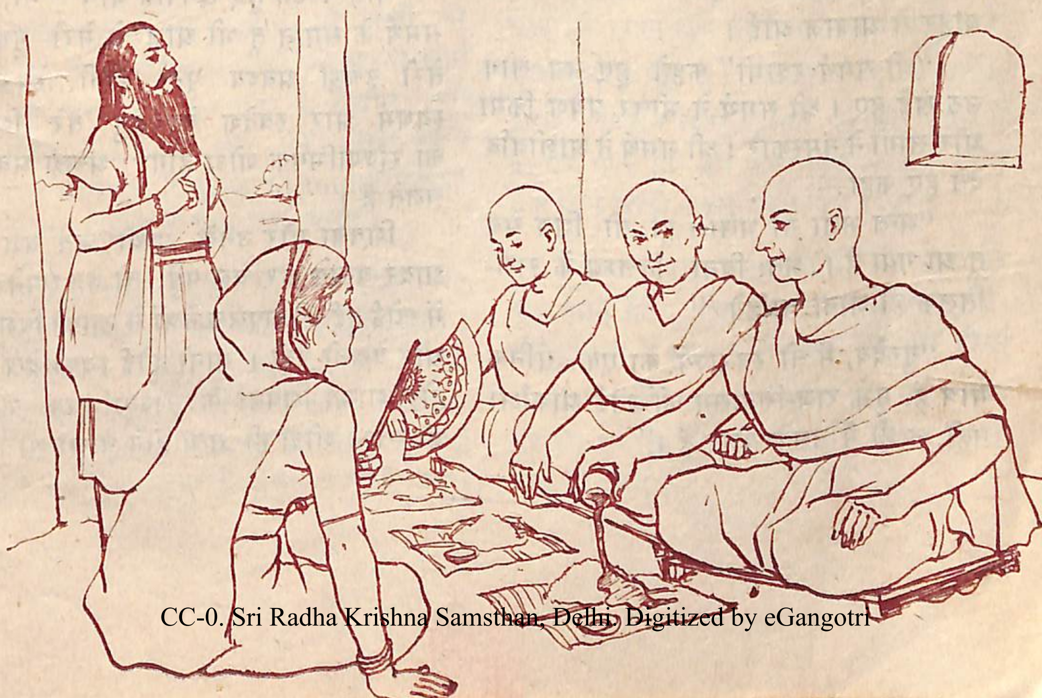
"पूछो" नीराजी पंत ने कहा।

"तो फिर महाराज, कृपा करके बताइये इन कफनियों के नीचे छिपी तलवारों का सन्यासियों से क्या सम्बन्ध है ?" बुढ़िया ने एकटक देखते हुए प्रश्न किया।

सब के चेहरे एकदम से उतर गये किन्तु शीघ्र ही सम्हलते हुए छत्रपति ने उत्तर दिया "माँ, अब तुम से कुछ भी छिपाने से क्या लाभ ? हम श्री छत्रपति के सैनिक हैं तथा उनकी खोज में निकले हैं। किन्तु सावधान, किसी से बताना नहीं।"

बुढ़िया मुस्कराई और रसोई बनाने में लीन हो गई। जब रसोई बन गई तो उसने केले के पत्ते बिछा दिये और कहा, "आओ बेटा !" सब लोग भोजन के लिये बैठे।

छत्रपति के पात्र पर बुढ़िया ने चावल रख कर दाल परोसी। पूर्व इसके कि वे दाल चावल ठीक से मिलाते, दाल चारों ओर से बह निकली। दाल को सम्हालने का उनका प्रयत्न देखकर बुढ़िया जोरों से हंस पड़ी। हंसते-हंसते उसने कहा, "केलों के पत्तों पर अभी भोजन करना नहीं आता। तुम भी,



तुम्हारे छत्रपति के समान मालूम होते हो। वह भी तुम्हारे समान ही हैं। किले पर किले जीत लेता है किन्तु उन्हें एक सूत्र में बांध कर नहीं रखता और इसका फल यह होता है कि वे किले हाथ से इस प्रकार निकल जाते हैं जिस प्रकार इन बिखरे चावलों से दाल निकल गई।"

सभी के मुख आरक्त हो गए किन्तु बुढ़िया ने उस ओर ध्यान नहीं दिया और वह कहती गई "चावलों को इकट्ठा करके उनके बीच में स्थान खाली किया जाता है और पश्चात् दाल डाली जाती है।

चारों तरफ चावलों की दीवार होने के कारण दाल निकल नहीं जाती। किले न निकलें इसके लिए दीवार की आवश्यकता है और छत्रपति का राजतिलक ही वह दीवार बन सकता है।"

"जय जय जय रघुवीर समर्थ" सहसा बाहर से आवाज आई।

"श्री समर्थ स्वामी" कहते हुए सब लोग उठ खड़े हुए। श्री समर्थ ने भीतर प्रवेश किया और लोगों ने नमस्कार। श्री समर्थ ने आशीर्वाद देते हुए कहा—

"अन्त भला सो भला। हां, तो शिव अब तू आ गया है। अतः बिना विलम्ब के राज-तिलक हो जाना चाहिये"!

"गुरुदेव, मैं तो स्वराज्य का एक सैनिक मात्र हूं, मुझे राज-सिंहासन की कोई आकाँक्षा नहीं, न ही मैं उसके योग्य हूं।"

"शिवा, यदि तू सिंहासन के योग्य नहीं तो क्या वे लोग योग्य हैं जिन्होंने विदेशी आततायियों की दासता को मोक्ष का साधन मान लिया है? क्या वे लोग योग्य हैं जो दिन में दस बार दुष्ट यवनों को दण्डवत् करते हैं और अपनी बेटियां उनसे ब्याहते हैं। क्या इस माँ का कथन सत्य नहीं है कि बिखरे चावलों में से दाल बह जाती है? स्वराज्य के संस्थापक को, आज इस तरह समय की मांग से मुंह न मोड़ना चाहिये"—श्री समर्थ ने ओज भरे शब्दों में कहा।

सम्मोहित होकर सब लोग सुनते रहे। समर्थ कब चले गए किसी को विदित न हो पाया। थोड़ी देर बाद तन्द्रा भंग होने पर छत्रपति ने कहा, "चले गए।"

बुढ़िया को भी होश आया। उसने हाथ जोड़ कर कहा—"क्षमा करना महाराज...!"

बात काटते हुए छत्रपति बोले "माँ, श्री समर्थ के समान तू भी आज से मेरी गुरु है। तेरी इच्छा अवश्य पूर्ण होगी...स्वराज्य, स्वधर्म और स्वदेश के हेतु तेरे शिवबा का राज्याभिषेक शीघ्र होगा···अच्छा अब हम चलते हैं।"

शिवबा और उनके साथी जब वृद्धा को आदर-वन्दन कर चल पड़े, तो वह अपने आप में खोई हुई सी अपलक नेत्रों से उनकी दिशा की ओर देखती रही। मानो कोई स्वप्न देख रही हो···शायद शिवबा के राज्याभिषेक का···, जो स्वप्न शीघ्र ही सत्य होने वाला था।

पुण्य का दर्पण

• जगदीश एम. ए.

एक सेठजी थे। अकूत वैभव, दिगन्त तक ख्याति और विराट् दानी भी। लोग जगते तो उनका नाम लेते और सोते तो उनका नाम सुनते। मगर धूप की छाया और धन की माया तो कहीं टिकती नहीं! समय बदला। सेठजी का ऐश्वर्य पतझर का पत्ता बन गया और एक दिन सब के अनजाने वे गांव लौट गए।

वहाँ सेठजी को रोगों ने घेरा। अब सेठानी जी ही थीं जो गाँव के दस घर दौड़तीं और जिनकी जुहारें लेते ऊबती थीं उन्हीं की मनुहारें करके जो काम पातीं उसे करतीं और दो जून चलातीं। पर नगर के ईर्ष्यालु जनों ने यह अवसर ताका और एक तीखा व्यंग्य उगला और एक दिन एक भोला ब्राह्मण नगर से चलता सेठजी के पास गाँव आया।

जैसा बना सेठजी ने उसका स्वागत-सत्कार किया। फिर आने का हेतु पूछा। ब्राह्मण स्वयं सगबग हो रहा था। सेठजी के पूछने पर लड़खड़ाते-से स्वर में बोला, "प्रसिद्धि सुनकर कन्या के विवाह के लिए याचना करने गया था। नगर के लोगों ने यहाँ भेजा। पर क्या जाने कहा क्या भूल हुई, यहां तो···" और उसकी वाचा बीच में ही टूट रही।

सेठजी के मुख पर पीड़ा और व्यथा की रेखाएँ घनी हो आयीं। बोले कुछ नहीं, पर प्रत्यक्ष था कि उनका रोम-रोम कराह उठा। सेठानी जी वहीं खड़ी थीं। दो पल को वह ठिठकी, फिर भीतर गयीं और अपना अन्तिम धन सुहाग-कंकरण लाकर उन्होंने ब्राह्मण के आगे रख दिया।

कुछ ही दिन गये बाद सेठजी कों कान में आई कि राज्य-क्षेम के लिए राजमाता सब के पुण्य खरीद रही हैं। सेठजी को हुआ, इतने-इतने पुण्य मैंने किए हैं, क्यों न ऐसे समय में दो-एक पुण्य ही बेच कर दिन काटूँ? और एक दिन लाठी टेकते-टेकते चल दिए।

पड़ाव आया। बगल की पोटली खोल कर कुछ खाने बैठे। एकाएक सामने से एक भूखी-सी कुतिया ने आकर ऐसे देखा कि फिर तीनों की तीनों रोटी उसका आहार बन गई और सेठजी सन्तोष के साथ पानी पीकर अपनी राह हो लिए।

नगर पहुंचे। राजमाता के सामने गए। एक दर्पण उनके आगे रखते हुए राजमाता बोलीं, "इसमें देखते अपने पुण्य स्मरण करो। सच्चा पुण्य इसमें झलक उठेगा और उसका मैं मुंह-मांगा इनाम दूंगी।"

बड़े आत्म-विश्वास के साथ सेठजी अपने एक-एक धर्म-कार्य को स्मरण कर गये जो उन्हीं की सम्पत्ति के सहारे आज भी सुरक्षित था और सैकड़ों-हजारों जन को सुख-सुविधा पहुँचा रहा था। पर वे स्तब्ध थे कि दर्पण में एक भी न दिखाई दिया।

तब राजमाता ने समझाया, "प्रदर्शन, प्रसिद्धि या स्वार्थ-कामना से किया हुआ दान-धर्म कभी पुण्य नहीं बनता सेठजी। ख्याति या स्वार्थ-सिद्धि के रूप में अपना फल वह तभी दे जाता है। यथार्थ पुण्य वही दान बन पाता है जो सहज किया हो। मन में न रखा हो। अब ऐसे पुण्यों को स्मरण करते दर्पण में फिर देखो!"

सेठजी ने एक बार सोचा, फिर दर्पण में देखा। कंकण और कुतिया वाली घटनाएँ वहाँ अंकित थीं।

राजमाता ने हर्षित हो इन पुण्यों का मुंह-माँगा मोल देना चाहा। दो बार, तीन बार उन्होंने पूछा, तब सेठजी के मुख से निकला, और वह भी यह, "मातुश्री, दान का स्वरूप और पुण्य की परिभाषा पहचान कर अब इन्हें तो नहीं बेचूंगा। मुझे आशीर्वाद दें।"

बाहर आये सेठजी तो राज्य के कोषपति मिल गये। देखते ही बोले, "स्वर्गीय मसाराज के समय की दस लाख मुद्राएँ आपको ब्याज सहित लौटाने को जमा हैं। ले लीजिए न!"

सेठजी को क्या लगा, मैं नहीं जानता। कहानी बनाने वाले ने मुझे नहीं बताया। आप में से बहुतों को जो लगेगा उसका मुझे अनुमान है। मैं इतना ही कहूंगा कि कहानी का सार-संकेत आपके मेरे जीवन में ही घटता मिल जाता है। यदि हम केवल देखें, देखने की करें!

सुहागिन बनी रहे मेरी जन्मभूमि

रतनलाल 'जोशी'

आसाम की रानी सर्वेश्वरी सत्रहवीं सदी के भारतीय इतिहास में इसी प्रकार प्रसिद्ध है जिस प्रकार गढ़मंडला की रानी दुर्गावती थी। तिब्बत के मार्ग से मंगोलों ने कामरूप (आसाम) पर हमला किया। रानी सर्वेश्वरी ने अपनी सेना एकत्र की और रात भर में ही तीन नदियाँ पार करके सवेरा होते-होते वह मंगोलों की छावनी पर टूट पड़ी। घमासान युद्ध हुआ। मंगोल मुँह की खाकर भागे। मगर रानी सर्वेश्वरी ऐसी घायल हो गयीं कि उसका वापस लौटना असंभव हो गया। उसका एक पैर और एक भुजा कट गई थी और उसके शरीर पर साठ घाव लगे थे। मरण-शैया पर पड़े-पड़े उसने अपने सैनिकों से कहा—"सुहागिन बनी रहे मेरी जन्मभूमि, इसलिए मैंने अपनी छाती का गरम-गरम रक्त उसकी मांग में भरा है। इसे याद रखना और अपनी सन्तानों को बताना—बलिदान स्वतंत्रता का कवच होता है।"

पैरिस झील की उस संध्या में

—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

१९६४ का जर्मन-वार उन दिनों दुपहरी में था। कैसर का तेज तप रहा था, संसार भर में उसके नाम की धाक थी। संसार की महाशक्तियां, सपने में उसे देखतीं, तो पसीने से तर हो जातीं। बेल्जियम को वह कुचल चुका था, रूस हिल रहा था और फ्रांस पर उसकी भयंकर आग उगलने वाली तोपें गरज रही थीं, फ्रांस परेशान था।

वह दिन फ्रांस के जीवन-मरण का दिन था, अत्यन्त संकटपूर्ण। पैरिस घिरा हुआ था – फ्रांस की ही फौजों के घेरे में, किसी को भी शहर से बाहर जाने की आज्ञा न थी—राजधानी का सम्मान खतरे में था। पैरिस के पास ही झील के उस पार जर्मनी की फौजें पड़ी हुई थीं। नागरिकों के लिये दीप जलाना और चूल्हे जोड़ना भी मना था, खाद्य-सामग्री पर फौज का कब्जा था; जनता का जीवन ऊब चुका था, पर कहीं गति न थी—कुहारों की चादर ओढ़े अपने सौन्दर्य और वैभव के यौवन में इठलाने वाली पैरिस-परी मूर्छित-सी पड़ी थी। ओह, बड़े दयनीय दिन थे वे! तभी की बात है।

मारिसेट भूख से बिलबिलाया, अनमना-सा अपनी घड़ियों की दूकान की ओर जा रहा था। उसके पैर चल रहे थे, पर मस्तिष्क उसका शून्य था। अचानक वह किसी आदमी से टकरा गया। क्षमा के भाव से उसने उसकी ओर देखा और वह खुशी से चिल्ला उठा—'ओह यार सोवेज, तुम कहाँ? कहो, खाने-पीने का क्या डौल है?"

"खाने-पीने का डौल? कुछ नहीं! परसों एक जंगली कबूतर हाथ लग गया था, उसमें तीन तीन साझी थे, तब से अब तक पेट महाशय इन्तजार की शूली पर लटक रहे हैं।"

"अजीब आफत है भाई! पहली जनवरी और यह मनहूसियत, आओ न जरा झील तक हो आएं! तुम्हारा घर पास ही है,

"मनुष्य पर जब शैतान सवार होता है, तो वह राक्षस बन जाता है। आज की दुनियां इसी हालत में है और इसी लिए चारों ओर खून की नदियां बह रही हैं, सारा संसार अशांत है।"

उठा लाओ कांटा; दो-चार मछलियां हाथ लगेंगी, तो पेट में गरमाई आयगी।"

"पागल हुए हो, अब झील कहाँ और कांटा कहाँ? यह फौजी घेरे का कांटा जो चारों ओर लगा हुआ है!"

"इस कांटे की काट तो मेरे पास है यार, तुम मरे क्यों जा रहे हो, लाओ तो कांटा।"

"आखिर वह काट क्या है, मैं भी सुनूं तो!"

"दक्षिण मोरचे के सेनापति मि० डुमोली मेरे मित्र हैं, वे हमें बाहर जाने का परवाना और लौटने का संकेत-शब्द दे देंगे। कहो, अब क्या रुकावट है?"

ठण्डक का दिन, चढ़ती हुई धूप, भूखा पेट, मित्र का साथ और सामने मछलियों से भरी झील! मारिसेट और सोवेज कांटा फेंक कर मछलियों का शिकार खेलने लगे। सामने ही दूरी पर जर्मन-फौज का शिविर था। उसे देखकर मारिसेट ने कहा—"क्यों जी! जर्मन जर्मनी में सुख से रहें, फ्रांसीसी फ्रांस में और दोनों एक दूसरे के सुख-दुख के साथी रहें, यह बात इन लोगों के गले क्यों नही उतरती?"

"मनुष्य पर जब शैतान सवार होता है, तो वह राक्षस बन जाता है। आज की दुनियां इसी हालत में है और इसीलिए चारों ओर खून की नदियां बह रही हैं, सारा संसार अशान्त हैं।"

"इन बादशाहों और सरकारों पर अगर शैतान सवार है, तो ये आपस में कट मरें या कमर पर भारी पत्थर बाँधकर इस झील में आ-डूबें, पर नये-नये नशे पिलाकर ये जनता को इस शैतानियत का शिकार क्यों बनाते हैं?"

इसी समय जर्मन-शिविर तोपों के गोलों से गूँज उठा और पैरिस के किलों की तोपों ने आकाश में धुआंधार मचा दिया, पर मारिसेट और सोवेज का इधर ध्यान नहीं था, वे मछलियां पकड़ने में तल्लीन थे। अचानक चौंककर मारिसेट ने कहा—"क्यों जी, अगर ये जर्मन-सिपाही हमें यहाँ देख लें तो?"

सोवेज को इस समय शिकार का मजा आ रहा था। कांटे से विना निगाह हटाये, रस-भरे स्वर में उसने कहा—"तो क्या है? देख लें, तो फिर देख लें। वे हमारे पास आयेंगे, तो कुछ मछलियां उन्हें भी दे देंगे। अरे भाई! आखिर दुनियां खाने के लिये ही तो लड़ती है।"

"पर जर्मन सिपाहियों की भूख तुम्हारी मछलियों से नहीं बुझ सकती; उनकी संगीनें तो तुम्हारे खून की प्यासी हैं कम्बख्तो!"

"ऐं", चौंककर दोनों ने पीछे की ओर देखा। पाँच जर्मन सिपाही संगीनें ताने खड़े थे। मारिसेट और सोवेज गिरफ्तार कर लिये गये।

× × ×

जर्मनी के सुव्यवस्थित शिविर में एक बड़े कैम्प के सामने ऊँची कुरसी पर एक विशालकाय अफ़सर फ़ौजी रोब से बैठा था और दो बन्दी उसके सामने उपस्थित थे— मारिसेट और सोवेज़।

हवलदार ने कहा—"सेनापति! ये

दोनों फ्रांसीसी जर्मन शिविर में जासूसी करते हुए पकड़े गये हैं। मेरा अन्दाजा है कि ये हमारा कार्यक्रम उड़ाना चाहते थे।"

सेनापति ने रोष की मुद्रा में बन्दियों की ओर देखा। इस दृष्टि में एक आतंक था, एक प्रश्न। अल्हड़पन से सोवेज़ ने कहा—"हम दोनों फ्राँस के साधारण नागरिक हैं और मछलियों का शिकार करने ही झील पर आये थे।"

"युद्ध के समय कोई साधारण नागरिक यहाँ नही आ सकता। मुझे मालूम है कि पैरिस घिरा हुआ है। याद रक्खो, मुझे बहकाकर तुम अपने घर नहीं लौट सकते।" धमकी के स्वर में सेनापति ने कहा—"जानते

"तुम्हारी प्राण-रक्षा का अब एक ही उपाय है।" सेनापति ने कहा, तो दोनों बन्दियों की आंखें आशा से खिल उठीं और दोनों के मुँह से एक साथ निकल पड़ा—"क्या ?"

"फौजी घेरे के अन्दर जाने का संकेत-शब्द बताकर तुम निश्चिन्त भाव से घर जा सकते हो।" सेनापति ने नम्रता से कहा।

बन्दियों की आशाभरी सुकुमार मुख-मुद्रा कठोरता में बदल गई। कड़ककर सोवेज ने कहा—"हम फ्राँस के जासूस नहीं हैं सेनापति, पर उसके नागरिक अवश्य हैं और हमारे देश के नागरिक-शास्त्र में विश्वासघात का कोई परिच्छेद नहीं है।"

"और अगर अपने राष्ट्र के साथ विश्वासघात ही प्राणरक्षा का वह उपाय है, तो सेनापति यह नोट कर लें कि फ्रांस के नागरिक इज्जत के साथ मरना खूब जानते हैं।"—मारिसेट ने सोवेज का भाव पूरा करते हुए कहा।

हो जर्मन शिविर में जासूसी का एकमात्र दण्ड गोली का निशाना है।" अफ़सर की तेज आंखें बन्दियों के मुंह पर आ ठहर गईं।

मारिसेट ने निश्चिन्त भाव से कहा—"वीर सेनापति ! हम भगवान् को साक्षी करके कहते है कि जासूसी के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं हैं।"

सेनापति का पौरुष काँप उठा—"चुप रहो कायर ! अपने भगवान को याद करो और तैयार हो जाओ। जर्मन गोली की मार तुम्हारे सारे रहस्यों का उद्घाटन कर देगी।" मारिसेट ने सोवेज की ओर देखा। वह मछलियों की थैली की ओर देख रहा था।

"और अगर अपने राष्ट्र के साथ विश्वासघात ही प्राणरक्षा का वह उपाय है, तो सेनापति यह नोट कर लें कि फ्रांस के नागरिक इज्जत के साथ मरना खूब जानते है।"—मारिसेट ने सोवेज़ का भाव पूरा करते हुए कहा।

सेनापति का चेहरा तमतमा उठा—"कुत्तो ! तुम्हारी फ्राँसीसी नागरिकता का यह जोश अभी ठण्डा हुआ जाता है।"

सेनापति की आँखें ऊपर उठीं। बन्दियों के सामने कुछ ही क़दम पर अपनी संगीनें ताने बीस जर्मन सिपाही उपस्थित थे। "धज्जियाँ उड़ा दो इन बदमाशों की" गरज कर सेनापति ने कहा। बीस बन्दूकें तनीं,

बीस बन्दूकें उठीं, सिपाहियों की सधी हुई उंगलियां घोड़ों पर जा पड़ीं और 'धड़म' के शब्द से झील का वह किनारा कांप-कांप उठा।

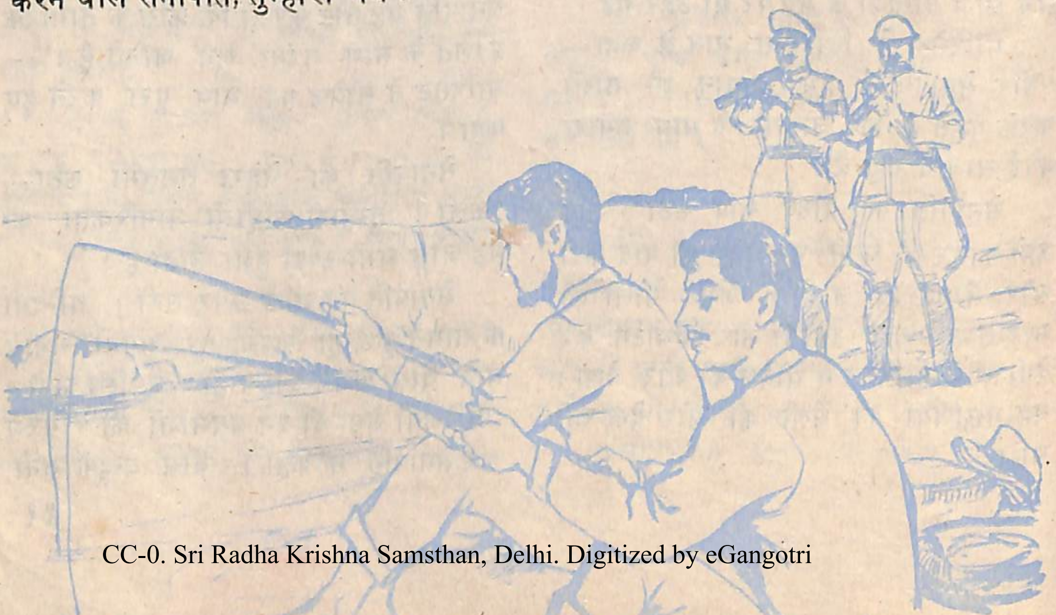
मृत्यु और जीवन के मध्य में ओह, ये कुछ पल ! सेनापति के संकेत पर स्वर्ण का ढेर बन्दियों के कदमों के पास लगा दिया गया। सेनापति ने मुहब्बत की मुद्रा में दोनों के कन्धों पर हाथ रक्खा—"क्यों यह कीमती जान बेकार खो रहे हो ? एक तरफ यह वैभव है, दूसरी तरफ कुत्त की मौत ? तुम चाहो, तो तुम्हें जर्मनी के शासन में कोई ऊंचा पद भी मिल सकता हैं। सुखमय-जीवन और दुःखमय मौत, दोनों तुम्हारे हाथ हैं। बोलो, क्या चुनते हो ?"

दोनों बन्दियों की आँखें मिलकर चार हो गईं। हृदय की भाषा में एक ने दूसरे से राय पूछी। दोनों के कन्धे तने हुए थे। मारिसेट ने कहा—"सेनापति, सोने के कुछ टुकड़ों पर मानवता के विनाश का पेशा करने वाले सेनापति, तुम्हारी नजरों में सोने के इस ढेर का कुछ मूल्य हो सकता है। तुम्हें यह मुबारक; गरीब नागरिकों के लिये तो उनकी ईमानदारी ही उनका वैभव है।"

सोवेज़ ने अत्यन्त दृढ़ता से कहा—"तुम्हारे हाथों में आज शैतानियत की शक्ति है और हम जानते हैं, तुम्हारी बन्दूकें अभी कुछ क्षणों में हमारे शरीर की धज्जियाँ उड़ा देंगी, पर मानवता के इतिहास में संसार तुम्हारे नाम पर घृणा से थूकेगा और हमारा नाम फिर भी सम्मान के साथ लिया जायगा।"

सेनापति का धैर्य छूट गया। क्रोध से तिलमिलाकर वह चिल्लाया—"मरने दो इन शैतानों को।"

बीस बन्दूकें उठीं, सिपाहियों की सधी हुई उँगलियाँ घोड़ों पर जा पड़ी और 'धड़म' के शब्द से झील का वह किनारा काँप-काँप



उठा। कई दिनों से भूखे दो शरीर बीस गोलियों की राक्षसी मार से तार-तार छितर गये।

ओह वह दृश्य ! सोने के सिक्कों का ढेर और उसके पास पड़े हुए दो मानवों के शव—खून से लथपथ माँस के कुछ लोथड़े; जैसे प्रलोभन और निस्पृहता के दो विरोधी प्रतीक।

वे लोथड़े उठाकर झील में फेंक दिये गये। मारिसेट और सोवेज जिन मछलियों का शिकार करने कुछ देर पहले आये थे, उन का महोत्सव हो गया—मछलियां उन्हें खा गईं।

स्वतन्त्र फ्रांस में आज भी वह झील है, उसका वह किनारा है और सुबह-शाम बहुत से नागरिक वहां घूमने आते हैं। मारिसेट और सोवेज की चर्चा वहाँ प्रायः रोज ही होती हैं। सचमुच झील के उस किनारे का कण-कण उनकी याद से भरपूर है।

ओह मारिसेट, ओह सोवेज, ईमानदार देशभक्त! नागरिकता के अमर प्रेरणा-पुँज !

★

एक अंग्रेज महोदय ने किसी प्रीतिभोज के अवसर पर कहा—"हम अंग्रेज वस्तुतः ईश्वर के प्यारे हैं। ईश्वर ने हमारा निर्माण बड़े यत्न और स्नेह से किया है, तभी तो हम इतने गोरे हैं !"

डा. राधाकृष्णन् भी वहाँ उपस्थित थे। यह गर्वोक्ति सुन मुस्कराये और सभी व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए बोले—"मित्रो ! एक बार भगवान् को रोटी पकाने की इच्छा हुई। वे रोटी सेंकने तो बैठे; किन्तु पहली रोटी जरा कम सिकी और परिणामस्वरूप अंग्रेज जाति का जन्म हुआ। दूसरी रोटी वे अधिक देर तक सेंकते रहे और इससे नीग्रो लोगों की पैदाइश हुई। अपनी इन दो भूलों से सतर्क हो, भगवान् ने जो तीसरी रोटी सेंकी, तो वह बिल्कुल ठीक थी—वह न कम सिकी थी, न ज्यादा। फलस्वरूप हम भारतवासियों का जन्म हुआ.........!"

उक्त अंग्रेज महोदय ने झेंप कर सिर झुका लिया और बाकी लोक उन्मुक्त भाव से हंस पड़े !

★

एक बार, जेल में, महात्मा गाँधी के लिए नारियल की रस्सी से बुनी चारपाई आई। सरदार पटेल का विचार था कि, चारपाई की रस्सी हटा कर उसे निवाड़ से बुन दिया जाय; लेकिन बापू को यह पसन्द न था, बोले—"देखो, रस्सी की खाट में खटमल हो जाते हैं, तो गरम पानी डालने से निकल जाते हैं।" सरदार ने कहा—"और, निवाड़ को तो केवल धूप में रखने से ही काम हो जाता है।" बापू बोले—"पर निवाड़ मैली जो हो जाती है !......" सरदार ने अविलम्ब जवाब दिया—"धोबी को भेजिये, समस्या खत्म।" बापू ने दूसरा तर्क उपस्थित किया—"जानते हो, मेरी माँ ऐसी ही खाट से अदरक छीला करती थी।" सरदार किंचित् मुस्कराये, बोले—"इसी लिए तो कहता हूँ कि, इस खाट पर सोने से, आपके शरीर पर थोड़ी-सी जो चमड़ी है, वह भी छिल जायगी।......" और, जोरों की खिलखिलाहट के बीच यह विवाद समाप्त हो गया।

—'महादेवभाई की डायरी' से

★

म्हारी खीर खोल दे

* महावीर त्यागी

सन् १९३८ में जिला देहरादून का बंदोबस्त हो रहा था। सब गाँवों के किसानों को बंदोबस्त के दफ्तर में आकर अपने-अपने खाते पर तसदीक के हस्ताक्षर करने पड़ते थे।

बैठे-बिठाये मुझे ख्याल आया कि, रिश्वतखोरी को रोकने और अपने जिले के किसानों की सहायता करने का इससे अच्छा अवसर मुझे जीवन में दुबारा नहीं मिलेगा। बस, मैंने एक घोषणा कर दी कि, जिले-भर के किसानों को चाहिए कि वे तसदीक के लिए अपने-अपने ग्रामों से पैदल जुलूस बना कर आयें और देहरादून आकर मेरे 'रैन बसेरे' में ठहरें। खाने-पीने का प्रबंध भी वहीं रहेगा और कानूनी सहायता भी मुफ्त दी जायेगी। फिर क्या था, दिन में कई जुलूस गाना गाते और 'जय' बोलते हुए 'रैनबसेरे' में आने लगे। दस 'जय' गाँधी जी की, तो दो मेरी भी बोलते। मकान के सारे कमरों और बरामदों में धान की पुआल बिछा रखी थी। उस पर रोज दो-दो, तीन-तीन सौ आदमी आकर विश्राम करते और रात को सब अपनी-अपनी शिकायतें सुनाते। मैं शिकायतें सुन कर उनको लाल, पीला, हरा, किसी-न-किसी रंग का टिकट दे देता। जितने रंग के टिकट थे, उतने ही मुंशी रखे हुए थे, सवेरा होते उनकी अर्जियाँ लिखते। अगले दिन १० बजे तक सारी अर्जियाँ लिखदी जातीं, तो यह काफिला जुलूस बना कर मेरे साथ कचहरी जाता। दिन-भर मैं और मेरे साथी कचहरी में टंगे रहते। तीसरे पहर से लंगर खुल जाता। सब लोग दाल-चावल चटनी और विना छिले आलू-टमाटर की सब्जी खाते और वापस चले जाते।

जनसेवा के कामों में मुझे एक अजीब तजुर्बा हुआ है। वह यह कि, यदि कोई व्यक्ति तन्मय होकर सेवा-कार्य में लग जाये और अपने को लुटा दे, तो लोग उसे लुटने नहीं देते, खुद उस पर लट्टू होकर लुटने लगते हैं।

केवल आठ दस दिन मेरे दाल-चावल खाने के बाद, किसानों में कुछ ऐसी हवा फैल गयी कि, जो भी आये, अपने साथ आटा-दाल या चावल लेता आये। कोई-कोई तो बोरी भर कर लाने लगा। फिर क्या था, भरमार हो गयी। अकेला खाना ही नहीं, वल्कि वकीलों की फीस और मुंशियों का वेतन भी इसी अन्न से निकलने लगा। यह काम ६ महीने तक निरन्तर चला। एक दिन किसी किसान ने शिकायत की कि, हमारा गाँव सड़क के किनारे पड़ता है। रातभर जुलूस आते हैं।

उनके जयकारों से हमारे बच्चों का सोना हराम होगया है। जाड़ों के दिन हैं- लोगों ने हमारे छप्परों पर फूंस नहीं छोड़ा; बैलगाड़ियों के पहिये तक भी जला डाले आग तापने के लिए। अब अपनी इस माया को समेटो और लोगों से कहो कि, पैदल आने की बजाय बैलगाड़ी या मोटर-बस में सफर करें। अगले ही दिन मैंने लकड़ी टाल पर जाकर बीसियों गाड़ी ईंधन खरीद लिया- कुछ दान में भी मिल गया-- और जितने गाँव सड़क पर पड़ते थे, उनमें ईंधन डलवा दिया कि, रात को लोग आग तापें।

जब किसी के पास काम बहुत रहता है और उसकी बीबी मर जाती है, तो अपनी हँसी मजाक की भूख भी वह उसी काम से बुझाता है। जब कोई किसान अपनी बात सुनाने खड़ा होता, तो मैं कहता- "पहले वायदा करो कि, काम हो जाने पर मुझे थाली-भर खीर खिला जाओगे।" सारी सभा हंस पड़ती और वह कहता "खीर आपको और आपके कुत्तों को ?" जब कोई खीर की बात भूल जाता, तो मैं डाँट कर कहता - "अपनी कहे जायेगा ! कंजूस कहीं का ! मेरी भूल गया ?" सब लोग एक-दूसरे की ओर आँख मारते और ठट्ठा मार कर हंसते। इस तरह मेरे पास कम-से-कम १०-१५ हजार खीर की थालियों के वादे हैं। उम्र-भर भी खाऊं तो खीर खत्म नहीं हो सकती। वही खीर वाले साथी किसान हैं कि, जो मुझे वोट देकर पार्लियामेंट भेज देते हैं।



बंदोबस्त तो खत्म हो गया, पर उसके बाद हमें व्यक्तिगत सत्याग्रह में फिर जेलखाने की सजा हो गयी। साल-भर बाद छूटे कि फिर जेल चले गये। यह हमारी अन्तिम जेल थी। दो वर्ष बाद लौटे, तो 'रैन बसेरे' में किरायेदार बसे थे। केवल मोटर-गैरिज और सागरपेशा खाली थे। इतना बड़ा घर और मैं अकेला। सामान घास में रख कर मकान के इधर-उधर घूमने लगा। सामने के काँटेदार तार को फांद कर मैं फुलवाड़ी में घुस गया और गुलाब की एक जंगली-सी झाड़ी के पास जा खड़ा हुआ। वह छोटे २ गुलाबों से लदी थी। बिखरी हुई पंखुड़ियां उनकी अनाथ अवस्था का परिचय दे रही थीं।

बस, रहने लगा बाहर की एक कोठरी में। उसी में सोने के लिए तख्त, उसी में दफ्तर की मेज, उसी में रेडियो और उसी में चाय के बर्तन। यहीं आते थे कलक्टर, कमिश्नर और ग्राम-निवासी और तख्त पर बैठ कर बातें करते थे।

एक दिन देहरादून से बीसियों मील दूर ढकरानी ग्राम के दो मुसलमान कोठरी की तरफ आ रहे थे। सामने चिक पड़ी देख कर कुछ ठिठक-से गये। मैंने अंदर से पहचान लिया और जोर से आवाज लगादी -"आओ मखमुल्ला, अंदर चले आओ।" उन्होंने एक-दूसरे की ओर देखा और बात-की-बात में

मखमुल्ला की आँख से आँसुओं की धारें ढुलक कर दाढ़ी से चूने लगीं। मैंने समझा कि, इस के घर कुछ 'गमी' हो गयी होगी। जिन किन्हीं को कोई कष्ट होता था, वे मेरे घर अपना मन हल्का कर लेते थे। मखमुल्ला को रोते देख कर मैं चिक उठा कर बाहर आया और उसके कंधे पर हाथ धर कर प्यार से बोला- "कहो, क्या बात है? घर पर सब राजी खुशी हैं न ?" आंसू पोंछते हुए उसने हँस कर कहा - "कोई बात नहीं, तैं जो मेरा नाम लेकर पुकारा, तो मुझे रोनी आ गयी।" अंदर आये और राई और मखमुल्ला, दोनों पैर झाड़ कर तख्त पर बैठ गये।

मैं कुर्सी पर बैठा था कि, मेरी मेज पर २० या २५ रुपये रख कर मखमुल्ला ने कहा - "जेल से छूट के आया है, जनें तेरे पास खाने कू भी है या ना।" मैंने फिर पूछा - "सब राजी-खुशी हैं न ?"

वह बोला- "खुदा की नियामत है। सब मौज में हैं और तुझे दुआ दे रहे हैं। तैं मेरा लगान घटवा दिया था। तू तो जेल गया पीछे परवरदिगार की वह बरकत हुई कि, बस पुच्छे ना, उधर जर्मन की लड़ाई छिड़ गयी और बाँसमती का भाव ४५ रुपये तक चढ़ गया। मजदूरों ने अपनी मजदूरी सवा रुपये रोज करली। बस, मैंने अपने लम्डे, लम्डी और लम्डों की बहुवों और दामादों कू जुटा कर............बीघे बाँसमती जड़ दी। बस, एक ही फसल में मेरा कर्जा भी उतर गया और मैंने दो भैंसें भी खरीद लीं। दो-चार दिन तो खीर खायी। जिस दिन दूध फटना बंद हो गया, तो लम्डे की बहू ने खीर पका ली। भरी थाली में से दो लुक्मे खाये होंगे अक मुझे तेरी याद आ गयी। या अल्ला जिस ने खीर खिलायी, वह तो आज जेल में बन्द पड़ा है और तू खीर खा रहा है। बस, तीसरा लुकमा मुंह में ना चला। वह दिन और आज का दिन, तीन बरस हो लिये, म्हारे घर खीर नहीं पक्की। अब तू चल, म्हारी खीर खोल दे।"

मखमुल्ला की बात याद करके मुझे आज भी ऐसा लगता है कि, जनसेवा का इससे ऊंचा प्रमाणपत्र मुझे न आज तक मिला है, न आइंदा मिलेगा। असली गाँधी-मार्का नशा तो वह था कि, जिसके हम आदी थे। अब मौसम बदल गया। सेवा और शासन के नशे साथ २ नहीं चल सकते। सेवा प्रधान हो, तो शासन का नशा भी ठीक चले, पर जब शासन ऊपर और सेवा नीचे हो जाय, तो देश की खैर नहीं है।

यदि कोई व्यक्ति तन्मय होकर सेवा-कार्य में जुट जाय और अपने को लुटा दे, तो लोग उसे लुटने नहीं देते, खुद उस पर लट्टू होकर लुटने लगते हैं।

असंस्कार

—काका कालेलकर

दक्षिण-महाराष्ट्र की बात है—काफी पुरानी। उन दिनों मैं कालेज का छात्र था। एक बार तीन-चार दिन की छुट्टियाँ बिताने मैं अपने एक मित्र के गांव गया। उसका परिवार बड़ा सम्पन्न था और उसीके अनुरूप उसका मकान और रहन-सहन भी। जिस दिन वहाँ पहुँचा, उसके दूसरे ही दिन मेरा मित्र मुझे अपने बगीचे के कुएँ पर नहाने के लिए ले गया। बड़ा अच्छा कुआं था—काले पत्थर से बाँधा हुआ, खासा लम्बा-चौड़ा। नीचे उतरने के लिए सीढ़ियाँ भी थीं। काफी देर तक हम उसमें तैरते रहे।

स्नान के उपराँत जब मैं बाहर निकला, तो मेरी नजर बगीचे के एक छोर से दूसरे छोर तक दौड़ने लगी। सचमुच मैं बहुत खिन्न हो गया, बगीचे की अवस्था देखकर। केवल आठ दस पेड़ थे उसमें—बाकी सारा बगीचा उजाड़ पड़ा था। मैंने अपने मित्र से कहा—"ओह, कितना अच्छा बगीचा बन सकता था यह! इसे इस तरह उजाड़ क्यों छोड़ दिया है?"

मित्र ने आहत स्वर में कहना आरम्भ किया—"यह पहले उजाड़ नहीं था। मेरे पिताजी को बागबानी का बड़ा जबर्दस्त शौक था। उन्होंने इस बगीचे में तरह-तरह के फलों के पौधे लगाये थे। उस समय इस बगीचे का रूप ही कुछ दूसरा था। मेरे पिताजी प्रायः गाँव वालों को यहाँ बुलाते और फूलों का सुवास तथा फलों का स्वाद उन्हें ग्रहण कराते प्रायः नित्य ही, यहां गाँव वालों के साथ मेरे पिताजी की बैठक जमती थी। पर गाँव वालों ने कुछ काल बाद अपना असंस्कार दिखाना शुरू कर दिया। अब वे सुबह-सुबह उठकर पूजा के लिए फूल तोड़ने यहाँ आ जाते। शाम को भी मालाएँ गूँथने को यहाँ से फूल ले जाते। अब उनका भोजन भी थाल की जगह यहाँ के केले के चिकने पत्तों पर होने लगा। वे फल तोड़ते-तोड़ते, डालियाँ और पत्ते भी तोड़कर बगीचे में गिरा देते। पिताजी ने गाँव वालों को बहुतेरा समझाया; पर सब यही कहते कि, वे कभी बगीचे की किसी चीज को हाथ नहीं लगाते। आखिर, एक दिन क्रुद्ध होकर पिताजी ने सभी केले के पत्तों को बाँस मार-मार कर फाड़ दिया, ताकि वे पत्तल के काम न आ सकें। पर इस पर भी गाँव वाले न माने। वे केले के थम्म की छाल नोच कर ले जाने लगे। उनके जानवर भी बगीचे में चराई करने लगे और सारे फूलों के पौधे चर



गये। पूरा बगीचा एक दम उजाड़-सा हो गया। और तब पिताजी से न रहा गया। एक दिन, उन्होंने सभी गाँव वालों को बगीचे में दावत दी और जब सब लोग खा-पी चुके, तो पिताजी ने उनके सामने ही मालियों से बगीचे के सारे पेड़ कटवा डाले—सभी पौधे उखड़वा दिये। तब से यह बगीचा उजाड़ पड़ा है। जो आठ-दस पेड़ अभी नजर आ रहे हैं; वे उस प्रलय के दिन छोटे थे और मालियों के हाथों से भाग्यवश बच गये थे! अन्यथा ये गरीब भी आज यहाँ नहीं होते!"

सुनकर मैं स्तब्ध रह गया। मेरे मुँह से आवाज न निकली। पर आज भी मैं सोचता हूँ कि, यदि गाँव वाले अपने को इस तरह असंस्कारी साबित न करते और मेरे मित्र के पिताजी थोड़ी और धीरता के साथ परिस्थिति का सामना करते तो गाँव की वह दिलकश रौनक क्या आज भी वैसी ही बनी न रहती?

★

जीवन के झरोखे से

श्रीमती सरोजिनी नायडू

लखनऊ के राजभवन में उत्तरप्रदेश की गवर्नर श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी रोग-शैया पर पड़ी थीं और सब जानते थे कि यह असल में रोग की नहीं, मृत्यु की शैया है।

अचानक अपने सेक्रेटरी को उन्होंने पास बुलाकर कहा-'एक गीत सुनाओ।'

'मान्ये, मुझे तो गाना नहीं आता!'

'जैसा आता है, वैसा ही सुनाओ, पर सुनाओ।'

अपने मधुर कण्ठ से उन्होंने कहा, तो सेक्रेटरी ने धीमे-धीमे गाना आरम्भ कर दिया। कमरे का वातावरण स्वर्गीय हो उठा, पर जैसे ही गीत पूरा हुआ और सेक्रेटरी ने उनकी तरफ देखा, वह स्तब्ध रह गया कि भारत-कोकिला का प्राण-पंछी संगीत के स्वर-पंखों पर बैठ इसी बीच लोक से उड़ गया है।

उनका जीवन योद्धा का रहा, उन का अन्तस कलाकार का। ठीक ही उन की विदाई योद्धा कवि की हुई-प्रयाण गीत के स्वरों से अभिनंदित!

श्री गुरूजी

श्री माधवराव सदाशिव राव गोलवलकर अपने अनुयायियों में गुरूजी के नाम से विख्यात हैं। वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रमुख हैं और देश में उनकी यात्रा होती रहती है।

वे इन्दौर आए हुए थे, सार्वजनिक जलसे में उनका भाषण होना था। कुछ विरोधी मत के लोगों ने नारा लगाया 'गुरूजी मुर्दाबाद!'

और लोग क्षुब्ध हुए, पर मीठी मुस्कराहट में वे बोले—"अरे भाई, ये लोग कह रहे हैं कि मेरा मुर्दा भी आबाद होगा।"

सब यों हँस पड़े कि सब मधुर ही मधुर हो गया।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

(नया जीवन से साभार)

मुझे छुरा घोंप देते

• नानक सिंह

इस समय मेरी उम्र ६४ वर्ष की है और यह घटना तब घटी, जब मैं सिर्फ २०-२१ वर्ष का युवक था, पेशावर (सरहद्दी सूबा) में रहता था।

उस समय पंजाब में 'अकाली' संस्था को जन्म लिये थोड़ा ही समय हुआ था और इस संस्था द्वारा चलाया हुआ 'गुरुद्वारा सुधार' का आंदोलन जोरों पर था। पंजाब के जिन ऐतिहासिक गुरुद्वारों पर दुराचारी महन्तों का कब्जा चला आ रहा था, उनके चंगुल से निकालकर गुरुद्वारों को सिख सम्प्रदाय के अधीन किया जा रहा था।

पंजाब के बाद सूबा सरहद्द में गुरुद्वारा-सुधार की बारी आयी। वहाँ पर भी कुछ ऐतिहासिक गुरुद्वारों पर महन्त लोग अधिकार जमाये बैठे थे। अपनी योजनानुसार जब अकालियों ने पेशावर पहुँचकर 'गुरुद्वारा भाई जोगासिंह' पर कब्जा कर लिया, तो हिन्दुओं और सिखों में साम्प्रदायिक संघर्ष आरम्भ हो गया। वहाँ के हिन्दुओं का दावा था कि, वह गुरुद्वारा सिखों का न होकर हिन्दुओं की मिलकियत है। 'भाई जोगासिंह' का वास्तविक नाम भी 'भाई जोगन शाह' था, जो एक हिन्दू संत था और उसका उत्तराधिकारी भी हिन्दू ही हो सकता था, सिख नहीं।

मुझे अच्छी तरह याद है कि, इससे पहले वहाँ के हिन्दू-सिखों में किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं था। वस्तुतः वहाँ हिन्दू-सिखों का कभी कोई प्रश्न खड़ा ही नहीं हुआ। पूजा-पाठ, तीज-त्यौहार और तीर्थ-व्रत, सब साझे के थे, हिन्दू अपने को हिन्दू के अतिरिक्त सिख भी मानता था और सिख अपने को सिख के अतिरिक्त हिन्दू भी मानता था। गुरुद्वारा हो चाहे देवमन्दिर, सभी में पगड़ियों और टोपियों वाले मिले-जुले श्रद्धालु दिखाई दिया करते थे। पर दुर्भाग्यवश वह साम्प्रदायिक संघर्ष दावानल की तरह इतनी तेजी से फैला कि, देखते ही देखते सब उसकी लपेट में आ गये। जरा-सी तू-तू-मैं-मैं से चलकर मामला 'बाइकाट' तक आ पहुँचा, और वहाँ भी न रुककर दंगे-फसाद तक नौबत आ गयी। हिन्दू मुहल्ले में सिख का प्रवेश या किसी सिख मुहल्ले में हिन्दू का चले जाना घातक समझा जाने लगा। देखते-देखते अगणित रिश्ते टूट गये, अनेक मित्रताएँ शत्रुता का रूप धारण कर गयीं।

तो उन दिनों मुझे भी अपने सिख होने पर कुछ कम गर्व नहीं था। फिर मैं ही अपने

कर्तव्य की अवहेलना कैसे करता? हम १०-१५ लोगों ने अपनी एक पार्टी कायम कर रखी थी, जिसका नाम था 'डुर्ली जत्था'-अर्थात् लट्ठबाजों का ग्रुप। उसका संचालन मेरे हाथ में था।

जाड़े का मौसम था। एक रात को मेरे मकान पर जत्थे की गोष्ठी हो रही थी। लघु-शंका के लिए मुझे बाहर जाना पड़ा, और जैसे ही लौटने लगा कि, कुछ दूरी पर मुझे किसी की आती हुई आकृति दिखाई दी। उस के निकट आ जाने पर मैंने देखा कि, एक हिंदू युवक था, जिसकी बगल में छोटा-सा बिस्तर दबा हुआ था। उसने मुझसे किसी मुहल्ले का पता पूछा। जान पड़ता था कि, या तो वह अजनबी है या अंधेरे में रास्ता भूल गया है।

उसे रास्ता बताने की बजाय मैंने अपने सांकेतिक ढंग से सीटी बजा दी, जिसे सुनते ही हमारा वह जत्था आ पहुँचा। फिर क्या था, हम लोग पिल ही तो पड़े उस मुसाफ़िर पर। फलस्वरूप दो ही चार मिनिटों में उस का खून से लथपथ शरीर हमारे पैरों के पास फैला हुआ था। हम लोगों ने आव देखा न ताव, और उसे घसीटकर मुहल्ले के पिछवाड़े एक टूटी-फूटी चहार दीवारी में फेंक आये, विना इस बात की परवाह किये कि, वह जीता है या मर चुका है। उसके बाद सबने अपने-अपने घर की राह ली। मैं अपने इस अद्वितीय कारनामे पर गर्वित होकर अपने बिस्तर पर जा लेटा।

सुबह होते ही किसी ने दरवाजा खट-खटाया और मेरा नाम लेकर पुकारा। पहले तो पुलिस की आशंका से मुझे डर होने लगा पर तुरन्त ही सम्भल गया-यह सोचकर कि, डर किस बात का! ऐसे पुण्यकार्य के लिए तो चाहे मुझे फाँसी पर ही क्यों न लटकना पड़े, लाट की भी परवाह नहीं है!

दरवाजा खोलकर देखा, पुलिस की बजाय गुरुद्वारे का सेवादार (अरदली) खड़ा था, घबराया और हड़बड़ाया-सा। मेरे कुछ पूछने से पहले ही बोला-"बाबाजी ने बुलाया है आपको, जल्दी चलिये। मैं डाक्टर को लिवाने जा रहा हूँ।" और उन्हीं पैरों लौटकर वह प्रभात के झुटपुटे में अदृश्य हो गया।

'बाबाजी' का अर्थ था निकटवर्ती गुरुद्वारे के वृद्ध ग्रंथी बाबा बागसिंह, जिन पर मुझे अपार श्रद्धा थी। उन्हें मैं गुरु-भावना से देखता था और उनका आचरण भी बड़ा उज्ज्वल था। लेकिन पिछले कुछ समय से मैं उन पर नाराज चला आ रहा था। नाराजगी का कारण था मेरे जत्थे और उसके कार्यक्रम से बाबाजी का विरोध। बस इसलिए मैं उन्हें भीरु और कर्तव्यहीन समझने लगा था।

चाहे कुछ भी हो, कितनी भी नाराजगी हो, पर थे वे उच्च कोटि के महात्मा और साथ ही मेरे गुरुदेव। फिर उनके बुलावे पर कैसे न जाता? कपड़े पहनते हुए मैं सोचने लगा, क्या जाने बाबाजी सीढ़ियों पर से गिर पड़े हों, या बाहर जाकर कहीं कीचड़ में फिसलने से चोटें आ गयी हों। डाक्टर को बुलाया है, तब तो तकलीफ ज्यादा ही होगी। क्योंकि मामूली दवा-दारू और मरहम-पट्टी का काम

"नानकसिंह! इससे तो अच्छा था कि, तुम मेरी छाती में छुरा घोंप देते!" और कहते-कहते उनके आंसू टपक पड़े।

"ओ पतितपावन बाबा ! काश ! आज तुम जीवित होते और वैसा ही कोई मर्मभेदी वाक्य कह कर अपने इन अभागे पंजाबियों का काया-कल्प कर डालते, जिनके अंग-प्रत्यंग को साम्प्रदायिकता के कोढ़ ने गलाना आरम्भ कर दिया है, जो अपनी परम्परागत वीरता से विमुख होकर आत्मघाती और भ्रातृघाती हो गये हैं।"

तो वे खुद भी करना जानते हैं।

लेकिन वहाँ जाकर जो कुछ मैंने देखा, सर्वथा स्तम्भित रह गया ! वही रात वाला मुसाफिर चारपाई पर पड़ा कराह रहा था। उसके माथे, कंधों व घुटनों पर पट्टियाँ बंधी थीं और बाबा जी उस पर झुके हुए न जाने क्या कर या करा रहे थे।

पदचाप सुनकर जब बाबाजी ने मेरी ओर ध्यान मोड़ा, तो मैंने देखा, उनकी आँखें छलक रहीं थीं। मुझे देखते ही वे भर्राये और करुण स्वर में बोल उठे- "नानकसिंह ! इससे तो अच्छा था कि, तुम मेरी छाती में छुरा घोंप देते !" और यह कहते-कहते उनके आंसू टपक पड़े।

मैंने बहुत यत्न किया कि, उत्तर में कुछ अनुनय-विनय करूँ-अपने अपराध के लिए क्षमा-प्रार्थना करूं; पर उनके मुँह से निकले हुए उस वाक्य ने मेरी जबान को ही नहीं, समूचे शरीर को जड़वत् बना डाला। दिल चाहने लगा-काश ! इस समय मेरे पास छुरा होता और उसे मैं अपनी ही छाती में घोंपकर उस महापुरुष के चरणों पर पछाड़ खा जाता।

मैंने जैसे-तैसे साहस बटोरा, मन को सम्भाला; पर इससे अधिक नहीं कह पाया– "बाबाजी, क्षमा !"

"क्षमा ?" वे वैसे ही कम्पित स्वर में बोले-"वह मेरे पास नहीं, इस गरीब के पास है।"

मैंने उनकी आज्ञा का पालन करते हुए वही किया; लेकिन पीड़ा से छटपटाते हुए उस



घायल में न तो मेरी ओर ताकने की क्षमता थी, न कुछ बोलने की।

इस घटना को घटे प्राय: आधी शताब्दी बीत चुकी है; पर आज भी मुझे ऐसा जान पड़ता है, जैसे वह कल की-सी बात हो। तब से लेकर अब तक मैं गल्प रूप में प्राय: पचास पुस्तकें लिख चुका हूँ; पर उनमें शायद एक भी पंक्ति ऐसी नहीं मिलेगी, जिस पर उन पूज्य बाबाजी के उस वाक्य की अमिट छाप न हो।

आज मैं अपने पंजाब को फिर उसी स्थिति में पा रहा हूँ। उसी प्रकार आज भी यहाँ हिन्दू-सिखों में साम्प्रदायिक संघर्ष चल रहा है, जिसे देख-देखकर मेरे कलेजे में एक हूक उठती है, अंत:करण से पुकार उठती है–"ओ पतितपावन बाबा! काश! आज तुम जीवित होते और वैसा ही कोई मर्मभेदी वाक्य कहकर अपने इन अभागे पंजाबियों का काया-कल्प कर डालते, जिनके अंग-प्रत्यंग को साम्प्रदायिकता के कोढ़ ने गलाना आरम्भ कर दिया है, जो अपनी परम्परागत वीरता से विमुख हो कर आत्मघाती और भ्रातृघाती हो गये हैं।"

श्रेष्ठ कौन ?

अरब में हातिमताई का नाम उदारता के लिए प्रसिद्ध था। वह अत्यंत उदार, दानी और परोपकारी था।

एक दिन उसके साथियों ने पूछा—"क्या अपने से भी महान व्यक्ति को तुम जानते हो ?"

हातिम ने कहा—"हाँ, एक दिन मैंने बहुत बड़ा भोज दिया था, जिसमें हजारों व्यक्तियों को भोजन के लिए निमंत्रित किया था। मैं मित्रों के साथ घूमता हुआ शहर से बाहर जंगल की ओर गया। जहाँ एक लकड़हारा लकड़ियाँ इकट्ठी कर रहा था। मैंने उससे पूछा—'भाई, जब हातिम ने भोज के लिए सबको न्यौता दिया था तो तुम वहाँ क्यों नहीं गये ? यहाँ इतना श्रम कर रहे हो ?'

उसने कहा—"जब मैं अपने श्रम से रोटी कमा सकता हूँ तो दूसरे का उपकार क्यों लूँ ?"

हातिम ने कहा—"मित्रो, उस लकड़हारे को मैं अपने से श्रेष्ठ मानता हूँ। दूसरों को दान देने वाले दानी से भी स्वयं परिश्रम कर पेट भरने वाला स्वावलंबी व्यक्ति श्रेष्ठ है।"

('जैन जगत' में श्री सम्पादक)

★

झांसी नहीं दूंगी

शान्ता कुमार

१८५७ की २८ जून की सायंकाल का समय है। एक घने बीहड़ जंगल में बाबा गंगादास की कुटिया के सामने एक चिता सजाई जा रही है।

"नहीं, कदापि नहीं, मैं मेरी झांसी न दूंगी जिसकी हिम्मत हो आजमा ले" २३ वर्ष की विधवा ने इन शब्दों की गर्जना से अंग्रेजी साम्राज्य के मुंह पर एक चपेड़ दे मारी। उन्मत्त अंग्रेज अपने पांव तले झांसी को रौंदने आगे बढ़ा। प्रसिद्ध सेनापति ह्यू रोज असंख्य सेना लेकर रानी को दुःसाहस का मजा चखाने का विचार लेकर झाँसी के दरवाजे पर आ धमका।

अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने झाँसी के नर-नारी एक लोहे की दीवार बनकर खड़े हो गये। तोप व बन्दूकों की गर्जना से धरती अम्बर दहलाने लगे। आजादी की लड़ाई में झांसी का बच्चा बच्चा हथेली पर प्राण लेकर आ जूझा। २३ वर्ष की सुकोमला लक्ष्मीबाई घोड़े की पीठ पर चढ़कर स्वयं सारे मोर्चों का निरीक्षण करती। उसकी सखियां मन्दार व काशी तोपखाने का प्रबन्ध संभाल रही थीं।

पूरे सात दिन व सात रात तक रानी ने अंग्रेज के दांत खट्टे कर दिये। छोटी सी झाँसी एक ओर, और विशाल अंग्रेजी साम्राज्य दूसरी ओर। ह्यू रोज के दम टूटने लगे तभी एक और विशाल अंग्रेज सेना उसकी सहायता के लिये आ पहुंची। युद्ध का पांसा पलट गया। रानी के सेनापति एक एक करके गिरने लगे। ५७ के स्वातन्त्र्य-युद्ध को जारी रखने के उद्देश्य से रानी ने कुछ विश्वस्त सैनिकों को लेकर झाँसी छोड़ने की योजना बनाई ताकि कहीं और जाकर नई सेना खड़ी करके फिर से युद्ध आरम्भ किया जाये। पर रानी को निकलने का रास्ता कहाँ से मिले। जिधर भी वह जाती अंग्रेज सेना उस पर लपक पड़ती। उसके रक्त की प्यासी अंग्रेज सेना ने उसे चारों ओर से घेर लिया। लाख प्रयत्न करने पर भी रानी रास्ता न बना सकी। तभी लक्ष्मीबाई की एक सखी झलकारी उछलकर सामने आई। उसने पलक झपकते रानी का मुकुट अपने सिर पर रख लिया और रानी को निकलने का संकेत करके स्वयं युद्ध करने लग पड़ी। उसे देखते ही अंग्रेज सेना उस पर झपटी, और देखते ही देखते उसे पकड़ लिया गया। तब तक रानी दूर निकल चुकी थी।

अंग्रेज सेनापति स्टुअर्ड ने झलकारी से कई प्रश्न पूछे। तब उन्हें पता लगा कि उन्होंने झाँसी की रानी नहीं अपितु केवल रानी का मुकुट ही पकड़ा है। स्टुअर्ड ने कहा—"यह कोई पागल लड़की लगती है।" तब कुशल योद्धा ह्यू रोज बोला–पागल नहीं। यदि भारत



की नारियों का एक प्रतिशत भी इस लड़की की तरह पागल हो जाये तो हमें सब कुछ छोड़ कर इस देश से भाग जाना पड़गा। और झलकारी को प्राणदण्ड मिल गया न्यायप्रिय अंग्रेज से।

जनरल बोकर एक भारी सेना लेकर रानी का पीछा करने लगा। रानी दोनों हाथों में दो तलवारें, पीठ के पीछे दत्ताक पुत्र बाँधे वायु से भी तेज उड़ती हुई स्वतन्त्रता-संग्राम का झण्डा फहराती आगे बढ़ रही थी। कई मुठभेड़ें हुईं कितने फिरंगियों को रानी ने मौत के घाट उतारा। एक सौ दो मील का लम्बा सफ़र तय करके रानी कालपी पहुँची। कालपी से ग्वालियर और फिर दर-दर भटकना। कोट के निकट रानी चारों ओर से घिर गई वहीं पर उसकी दोनों सखियां काशी व मंदार युद्ध करती हुई घायल होकर गिर पड़ीं। पर साहसी रानी कुछ भी परवाह किये विना चारों ओर तलवार घुमाती रणचंडी का रूप धारण किये अंग्रेजों को छठी का दूध याद दिला रही थी। केवल पन्द्रह सिपाहियों के साथ यह बाला एक प्रबल सेना का मुकाबला कर रही थी। आखिर कब तक टिकती। सामने कुछ साथियों से मिलने के लिये रानी ने शत्रु सेना को चीर कर निकलना चाहा। हजारों तलवारें उस पर लपक पड़ीं। सामने नाला था। रानी का नया घोड़ा अटक गया। पीछे से आक्रमण हुआ मुड़कर रानी ने तलवार की छपाक से एक को यमलोक पहुँचा दिया। पर तभी दूसरी ओर का एक वार हुआ। रानी के सिर का दाहिना भाग कट कर धरती पर गिरा। आँख बाहिर निकल आई। रानी अभी संभल भी न पाई थी कि एक और वार रानी की छाती पर हुआ। लहूलुहान रानी ने पीछे मुड़ कर देखा। और एक ही वार से उस फिरंगी को मौत के घाट उतार दिया।

१८५८ की २८ जून की सायंकाल का समय है। एक घने बीहड़ से जंगल में बाबा गंगादास की कुटिया के सामने एक चिता सजाई जा रही है। सेवक रामचन्द्र हाथ जोड़े आँखे पोंछता सामने खड़ा है। लकड़ियां जो भी मिलीं उस वनान्त में, वे रखी गईं और उन्हीं पर उस कोमलांगी रमणी का फूल सा शरीर रख दिया गया।

अंग्रेज सेना रानी का पीछा करते करते जब उस कुटिया के पास पहुँची तो गर्म राख का एक ढेर पड़ा था गंगादास की कुटिया के सामने। रानी की ही यह अंतिम इच्छा थी कि किसी भी फिरंगी का हाथ लगने से पहले उसे जला दिया जाये।—चिता धीरे धीरे शान्त व शीतल हो गई।

★

वासुदेव

—सकलेश

अनु. जगमोहनराव भट्ट

सन् १८७१

भारत की ब्रिटिश सरकार का एक क्लर्क अपने कमरे में सुस्त बैठा है, और खिड़की से बाहर संध्या को निहार रहा है।

अचानक द्वार पर खड़खड़ाहट होती है। हाथ में एक तार लिए डाकिया उपस्थित है।

"माता की हालत चिन्ताजनक है - तुरन्त चले आओ।" तरुण युवक का गौर - वदन चिन्ता से मलिन हो गया और उसकी आंखों में पानी भर आया।

एक क्षण में उसके मानस - पटल पर समस्त पुरानी स्मृतियां उतर आईं।

पिता के साथ झगड़ा—घर से भागना—अंग्रेजी शिक्षा—अलभ्य वस्तु—और फिर यह नौकरी..............

जल्दी से युवक ने छुट्टी की अर्जी घसीटी और अपने अफ़सर के पास गया।

"क्या है ?" यूरोपियन गुड़गुड़ाया—"छुट्टी !"—उसका स्वर सन्देहशील और मन अविश्वास से भरा था।

"क्या तुम्हारे घरवाले छुट्टी के अलावा कुछ और भी सोचते हैं ? चले जाओ—और अपना कार्य करो।'।

क्लर्क बिना हिले-डुले खड़ा रहा। क्या इस अफसर के अपनी मां नहीं है ! दुःख से पीड़ित-हृदय वह अपनी सीट पर जा बैठा, एक सप्ताह के भीतर ही दूसरा समाचार भी आगया—उसकी माँ ने उसका नाम रटते २ श्वास छोड़ दिए थे।

क्लर्क ने अपने होंठ गुस्से में काट लिए—और फिर नौकरी चालू रखी। शनैः शनैः किन्तु नियमित रूप से उसका दुःख उसे अन्दर ही अन्दर कचोटता रहा।

एक वर्ष व्यतीत होगया और दिवंगत माता की श्राद्ध-क्रिया का अवसर आ गया।

फिर एक बार क्लर्क छुट्टी की अर्जी लेकर अपने अफसर के सम्मुख उपस्थित हुआ। वह दम तोड़ती माँ को नहीं देख सका था, किन्तु वह उसके श्राद्ध-कर्म में अवश्य ही जाना चाहता था।

"श्राद्ध !" यूरोपियन ने घृणा के साथ कहा। "ऐसे पुराने निरर्थक अन्धविश्वासों के लिए मेरे पास कोई समय नहीं है—मैं इन को राज्य-कार्य में बाधक भी नहीं बनने दूंगा। अपनी सीट पर जाकर बैठो—जाओ।"

क्लर्क वापिस चला गया — घर को। उसने नौकरी को लात मार दी। किन्तु, जाने से पहले उसने अपने अफसर से शान्तिपूर्वक कहा, "भारतीयों के साथ ऐसे व्यवहार के लिए तुम और तुम्हारे पन्थ के लोग एक दिन पश्चात्ताप करेंगे। मैं यह करके रहूँगा।"

अफसर टकटकी लगाए देखता रहा — फिर उपहास करने लगा। एक लघु जीव सर्वशक्तिशाली ब्रिटिश-राज को डरा रहा था।

क्लर्क बाहर चला गया — और फिर भयंकर क्राँतिकारी वासुदेव बलवन्त फड़के में बदल गया।

"वह दुर्धर्ष आतंक है" — एक अंग्रेज अफसर ने नि-श्शक रूप में मान लिया।

"और वह इतनी शीघ्रता से इधर - उधर आता - जाता है कि जैसे वह अनेक स्थानों पर एकही समय पर उपस्थित हो।" दूसरे ने कहा।

वासुदेव फड़के के साथ कैसे सुलझा जाए इस के लिए उच्च ब्रिटिश अधिकारियों का युद्ध - सम्मेलन जारी था।

यह सन् १८७६ मई की १३ तारीख — मध्य - रात्रि थी। "हां वह प्राय: प्रत्येक स्थान पर एक ही समय में उपस्थित होता है।" एक शांत - स्वर द्वार से आया। वासुदेव बलवन्त द्वार पर खड़ा था और उसकी उँगली बन्दूक के घोड़े पर थी। धीरे से, उसके साथी कमरे में घुस आए, और एक - एक अफसर बंदूक की नाल के मुंह पर दिखाई दिया।

अफसरों के मुख मृत्यु - भय से पीले पड़ गए। फड़के ने निश्चयात्मक तीव्र आज्ञा दी— गोलियों की दनदनाहट हुई—और अफसरों की लाशें लुढ़क गईं।

दूसरे दिन, बम्बई की दीवारों पर इश्तिहार लगे हुए थे — 'जो कोई फड़के को पकड़ेगा उसे ५०,००० रुपए का इनाम मिलेगा।..........

लोगों ने पढ़ा—और लौट कर चले गए।

.........अगली रात के अंधकार में एक नया इश्तिहार लगा था ——, "वासुदेव फड़के के पास एक अंग्रेज — अफसर का सिर लाने वाले को ७०,००० रुपया मिलेगा— और यह देशभक्ति का कार्य होगा।"

जनता ने पढ़ा — और प्रसन्न हुई।

अंग्रेज अफसर क्रोध में आग--बबूला होते रहे। इन इश्तिहारों को कौन चिपका सकता था?

कभी किसी को पता नहीं हुआ।



कौआ और हंस

नानाभाई भट्ट

गंगा के किनारे एक बरगद का पेड़ था और उस पेड़ के आसरे में पक्षियों की एक बड़ी बस्ती रहती थी।

पूर्व में प्रभात हुआ। सारी रात जो बरगद गूंगा बना रहा, वह अब मानो जमुहाई ले कर और आलस मरोड़ कर उठ बैठा; जैसे उसकी वाणी का स्रोत फूट पड़ा हो। भागीरथी का धीर, गंभीर नीर कल-कल छल-छल नाद के साथ बह रहा था। ऐसे समय तीन हंस बरगद के नीचे आ पहुंचे। शुद्ध श्वेत वर्ण वाले मानसरोवर के राजहंस! सफेद उनके पंख, और मोती-मराल का दाना चुगने वाली उनकी सुन्दर लाल चोंचें! आज वे कोई पचास कोस का मार्ग तय करके आये थे; उनके मुंह पर और उनके पंखों पर थकान की तनिक-सी छाया थी।

पंख समेटकर हंस बरगद के नीचे बैठ गये।

बड़ पर एक कौवा रहता था। काजल से काले उसके पंख, और पंखों से भी अधिक काली उसकी चोंच। दोनों आँखों में से एक आँख फूटी, और दो पैरों में एक पैर लंगड़ा।

हंसों को देखकर कौवाभाई काँव-काँव करके फुदकने लगे; कभी गरदन टेढ़ी करते, कभी कानी आँख घुमाते, कभी इस डाल से उस डाल पर फुदककर बैठते, और कभी अपनी चोंच साफ़ करने लगते!

"यह कौन बैठा है यहाँ?" कौवे ने अत्यन्त तिरस्कार-पूर्वक कहा और अपनी एक टाँग उठाकर उसने हंसों पर चिरक दिया। हंस आराम से बैठे थकान उतार रहे थे। उनमें से एक हंस बेताब हो उठा; अभी उसकी जवानी फूट रही थी। कौवे की बीठ पड़ते ही नौजवान हंस ने ऊपर देखा।

"अरे, तुम कौन हो? यहाँ क्यों आये हो? क्या यह बड़ तुम्हारे बाप का है?" कौवे ने पूछा।

हंसों ने जवाब नहीं दिया। यह देखकर कौवे को और जोश आ गया। वह चार डाल नीचे उतरा, और ज्यादा जोर से काँव २ करने लगा। बोला—"अरे, बोलते क्यों नहीं हो? मुँह में जीभ-वीभ है या नहीं?"

कौवा और दो चार डाल नीचे उतर

ग्राया। ग्रबके वह बिल्कुल ही पास ग्रा गया। उसकी काँव-काँव तो जारी ही थी।

कौवे के कर्कश स्वर से थककर एक हंस ने उत्तर दिया—"हम राजहंस हैं। ग्राज लम्बा पथ पूरा करके थक गये हैं। इसलिये कुछ देर यहां बैठकर विश्राम कर रहे हैं। ग्रभी चले जायेंगे ?"

"तो कुछ उड़ना-उड़ाना भी जानते हो, या यों ही इतने बड़े-बड़े पंख लिये बैठे हो ?" कौवाभाई तो फूले नहीं समा रहे थे। फिर बड़ पर चढ़ गए, ग्रौर उड़ने लगे।

नौजवान हंस कौवे की ग्रोर टकटकी लगाये था।

किन्तु कौवे से कहाँ रहा जाता ? बोला —"यों घूर-घूरकर क्या देख रहे हो ? उड़ना जानते हो, तो ग्रा जाग्रो। मैं इक्यावन तरह की उड़ाने उड़ना जानता हूं। देखो, यह दूसरी, यह तीसरी, ग्रौर देखो, यह चौथी, ग्रौर यह, बिल्कुल नई !"

कौवे की इक्यावन उड़ानें ! बांई ग्राँख मूंदे ग्रौर एक उड़ान हो जाय, दाहिनी मूंदे ग्रौर दूसरी; चोंच को ऊपर उठाये रक्खे, तो तीसरी, ग्रौर नीचे झुकाये रक्खे, तो चौथी। इस तरह कौवे ने ग्रपने इक्यावन प्रकार तैयार कर रक्खे थे, ग्रौर खेल सारा बरगद के ग्रास-पास !

दो चार प्रकार की उड़ानें दिखाकर कौवा फिर नीचे उतर ग्राता, छाती फुलाता, ऐंठ-कर चलता, हंसों के सामने ग्राता, ग्रौर कहता—"ऐसा कुछ जानते हो ?"

इस तरह कौवे की इक्यावन तरह की उड़ानों का प्रदर्शन पूरा हुग्रा। किन्तु हंस जवाब दें तब न ? हंसों की चुप्पी से कौवे महाशय का हौसला ग्रौर भी बढ़ गया ग्रौर वह बोले—"है हिम्मत मेरे साथ उड़ने की ? इक्यावन प्रकार में से कोई दो-चार तो उड़कर दिखाग्रो। दीखते तो छैलछबीले हो ! शरम नहीं ग्राती ?"

वृद्ध हंस चुप ही रहे, किन्तु उस युवक हंस का खून खौल उठा। बोला—"दादा ! मुझे जाने दो न ?"

"इस कौवे की सात पीढ़ियों ने कभी हंस देखे नहीं। हम तो मानसरोवर के राज-हंस हैं। हम इस कौवे के मुँह क्यों लगें ? हम इसके साथ होड़ में उतरे तो इसे व्यर्थ की झूठी प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाये। भले न बकता रहे ! हम तो ग्रभी चल पड़ेंगे।" उस ग्रनुभवी हंस ने जवाब दिया।

किन्तु इससे उस नौजवान के मन को संतोष न हुग्रा। उसके पंख चुलबुलाने लगे; उसका दिल दुखने लगा। बोला—"ना दादा ! मुझे तो जरा इसे दिखाने दो ?"

"नहीं भाई, नहीं।"

लेकिन जवानी ग्राखिर उछली! नौजवान हंस सामने ग्राया ग्रौर बोला—"भाई ! तुम्हें इक्यावन उड़ानें ग्राती हैं; उतनी तो मैं नहीं जानता। पर एक उड़ान जानता हूँ।"

"कितनी ? एक ? छिः छिः ! एक में क्या धरा है ?"

नौजवान हंस बोला, "उस एक उड़ान में मेरे साथ उड़ना चाहो, तो चलो।"

कौवाभाई छाती फुलाते हुए ग्रागे ग्राये ग्रौर बोले—"एक ही ? बस, केवल एक ? ग्रच्छा तो चलो, एक तो एक सही ; लेकिन

मेरी इक्यावन उड़ानें तो देख ली हैं न ? एक और इक्यावन का फरक तो समझते हो न?"

और दोनों की एक उड़ान शुरु हुई। टेढ़े तिरछे उड़ने वाले कौवा भाई आगे और धीरे गति उड़ने वाला नौजवान हंस पीछे। कौवा भाई का खेल तो रोज बड़ के आसपास ही होता रहता था, किन्तु आज दोनों नदी की ओर मुड़े। दोनों ने गंगा के पानी को घुटने-घुटने पीछे छोड़ा, और आगे बढ़ गये। कौवे के हर्ष का पार न था। कौवाभाई जोर मार कर बराबर आगे रहने की कोशिश करते थे। और हंस तो सहज भाव से बढ़ता चला जा रहा था। कुछ दूर आगे जाने पर कौवा मुड़ा और बोला—"इतने पीछे क्यों रह जाते हो ? थक गये हो, तो कह देना। कहने में शरम-संकोच न रखना। यह तो 'पानी' का काम है। हम तो रात दिन के अभ्यासी ठहरे तुम्हारी हमारी बराबरी क्या ?"

हंस ने कहा—"कोई बात नहीं, उड़ेचलो, और आगे कौवा पीछे हंस।

फिर कुछ दूर उड़ने के बाद कौवा भाई बोले—तो अब तुम थक गये होगे, चलो अब लौट चलें।"

हंस ने शाँतिपूर्वक जवाब दिया—'नहीं, नहीं। मैं तो तनिक भी नहीं थका हूं। तुम उड़े चलो, मेरी फिकर न करो।"

आगे-आगे कौवाभाई, और पीछे-पीछे हंस। लेकिन कौवा-भाई तो थक चले। कोई न कोई बहाना निकालते और लौटने की बात करते, पर हंस से एक ही जवाब मिलता—"उड़े चलो।"

आखिर कौवा भाई थक गये। उनका दम फूलने लगा, और पंख पानी की सतह को छूने लगे।

नौजवान हंस पीछे-पीछे उड़ता आ रहा था। बोला—"कहिये, कौवाभाई, भला यह कौनसे प्रकार की उड़ान है ? यह तो कोई नई ही उड़ान मालूम होती है।"

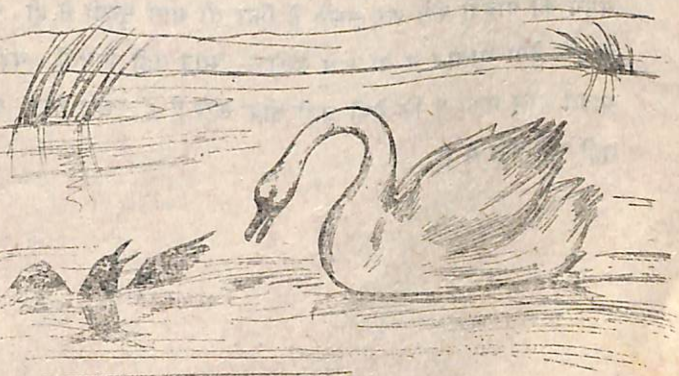
कुछ देर बाद तो कौवाभाई के पंख भीग गये, और सिर पानी में डूबने-उतरने लगा।

"कहिये कौवाभाई ! यह आपका इक्यावनवां प्रकार तो नहीं है न ? यह उड़ान इतनी कठिन क्यों लगती है ?"

विना प्यास के पानी पीते-पीते बरगद के राजा कौवा भाई बोले-"भैया! यह इक्यावनवां प्रकार नहीं। यह तो मेरे जीवन का अन्तिम प्रकार है।"

राजहंस को दया आ गई; वह फुर्ती से कौवे के पास पहुँचा, और उसे अपनी पीठ पर बैठा लिया।

हंस ने कहा—"भाई ! मुझे तो एक ही उड़ान आती है। अब जरा देखो मेरी यह एक उड़ान। अच्छी तरह जम कर बैठना, भला!"



श्रौर हंस तो उड़ा सो उड़ा। हिमालय के शिखरों को पार करके मानसरोवर तक पहुँचने वाला राजहंस, गंगा के घाट को चीर कर उस पार पहुँचा श्रौर वहां से एक लम्बा चक्कर लगाकर, कौवाभाई को विशाल श्राकाश-दर्शन कराता हुश्रा वापस बरगद के नीचे श्रा गया। हंस को नीचे उतरा देख कौवाभाई की जान-में-जान श्राई।

लेकिन श्राखिर कौवाभाई तो कौवाभाई ही ठहरे !

हंस ने जमीन पर पैर रखा, इतने में तो कौवा कांव-कांव करता, पीठ पर से उड़कर पेड़ पर पहुँच गया, श्रौर बाद में बरगद की उसी डाल पर से एक बार फिर हंसों पर चिरक दिया ! कौवा श्रौर क्या करता ?

कुछ देर बाद राजहंस उड़ गये।

समय की पाबन्दी

भारत के महामनीषी डाक्टर भगवानदान के पास श्रीमती एनी बीसेंट श्राईं। बात चली, बहुत चली, बहुत देर तक चलती रही। एनीबीसेंट ने श्रपनी घड़ी की श्रोर देखकर कहा—"भगवान, श्रापकी घड़ी बहुत श्रागे है।" डाक्टर भगवानदास ने उत्तर दिया—"मैं जान-बूझकर उसे श्रागे रखता हूं। समय की पाबन्दी मुझमें बिलकुल नहीं है। घड़ी तेज रखने से श्रपने निश्चित काम को ठीक समय पर निभा लेता हूं।"

एनीबीसेंट ने फिर कहा—"जब यह बात मालूम है श्रापको कि श्रापकी घड़ी श्रागे है तो श्राप समय की पाबंदी कैसे कर सकते हैं फिर तो श्राप सुस्ती से ही काम करेंगे।" भगवानदास जी को तर्क में हरा देना श्रासान न था। वे बोले—"श्राप नहीं जानतीं, बड़ी मानसिक कसरत के बाद भूल जाने की श्रादत डाल सका हूं कि मेरी घड़ी ठीक नहीं है।" सच बात यह रही कि वे कभी भी समय की पाबंदी नहीं कर पाते थे।

*

सौ-सौ की बलि

—कैलाशचन्द्र

तिब्बत के खाम प्रदेश में ल्हासा से २०० मील दूर इस पहाड़ी क्षेत्र में सहस्त्रों वर्षों से धर्म-परायण नर-नारी 'आम्दो' के प्रसिद्ध विहार में अपने आराध्यदेव के चरणों में शीश झुकाकर नैवेद्य और अर्घ्य चढ़ाया करते थे। दान दक्षिणा की धन-राशि से विहार के १५०० भिक्षुओं का निर्वाह होता था। ये भिक्षु शारीरिक आवश्यकताओं से मुक्त वीतराग प्रात: और सायं घन्टों प्रार्थनाचक्र घुमाते हुए मन ही मन में बुद्ध-धर्म के मूल-मन्त्र का जाप किया करते थे—**ओं मणि पद्मे हूँ ! ओं मणि पद्मे हूँ !!**" श्री छो ज्याम छो (धर्म सागर) विहार के अध्यक्ष थे। जिन्हें लोग आदर से गुरुदेव लामा कहा करते थे। ७० वर्ष की आयु परन्तु तेजोमय चेहरा और बलिष्ठ शरीर दूर-दूर से भक्तजन दर्शन के लिये आते थे। किन्तु आज चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ है। स्त्रियाँ अपने बच्चों को घरों में छिपाये बैठीं हैं। पुरुषों के उतरे चेहरे मौन हैं। फिर भी यह खबर चारों ओर फैल गई कि १०० चीनी सिपाहियों का एक सशस्त्र दल विहार में आ घुसा है और गुरुदेव लामा से पूछताछ हो रही है। शायद चीनियों को पता चला है कि लामा जी ने चीनियों की आज्ञा भंग करने का आदेश दिया है।

अब क्या होगा ? क्या ये गुरुदेव को मार डालेंगे ?

—नहीं कैद करके पीकिंग ले जाएँगे।

—गुरुदेव का दोष क्या ?

—दोष क्या होना था। अब हम चीन के गुलाम हो गये हैं। अब दलाई लामा जी का शासन नहीं चलता।

—क्या भगवान् बुद्ध हमारी रक्षा नहीं करेंगे? तारा देवी हमारी रक्षा नहीं करेंगी ?

—भगवान् हम से रूठ गये हैं।

* * *



---यह क्या ? गुरुदेव लामा को और अन्य ५ लामाओं को शृंखला में बांध कर घसीटते हुए लाया जा रहा है।

भारी भीड़ एकत्र हो गई । चीनी सैनिकों का रास्ता रुकने लगा। कमांडर ने लाल आंखों से भीड़ की ओर देखा और एक सैनिक ने मशीनगन से गोली चला दी। एक व्यक्ति वहीं ढेर हो गया। कई घायल हुए। लोग सिर पर पांव रख कर भागे। देखते ही देखते मैदान खाली हो गया पर १८ वर्षीय नोरबू छेरिंग (रत्न चिरंजीव) वहीं खड़ा रहा, मानो उसकी आंखें पथरा गई हों, शरीर का लहू जम गया हो। सैनिकों ने उसे भी बन्दी बना लिया और डांटते, ठोकर मारते हुए छावनी की ओर चल पड़े। बन्दियों को चार दिन तक भूखे रखा गया। गुरुदेव लामा और उनके साथियों को सड़क बनाने के लिये चट्टानें तोड़ने पर लगा दिया गया और युवक को एक बन्दीगृह में भेज दिया जहां ऐसे ही १५, २० अन्य खामपा युवक बन्दी पड़े थे।

प्रतिदिन इन्हें विभिन्न यातनाएँ दी जातीं कई बार नये चीनी सैनिक इन्हें बेंत मारने का अभ्यास करते। उन्हें कई-कई दिन भूखा रखा जाता। कभी चीनी शासन की अच्छाइयां उन्हें समझाई जातीं। नोरबू छोरिंग ने यह सब सहा और धीरे-धीरे कुछ खामपा बन्दियों को अपना साथी बना लिया। एक दिन भगवान् बुद्ध का ध्यान करके सबने शपथ ली कि गुरुदेव लामा के अपमान का बदला लेकर रहेंगे और प्रत्येक बन्दी १०१ चीनियों को मार कर भगवान् के अर्पण करेगा। पर यह सब कैसे किया जाय ? यह प्रश्न उन युवकों को सताने लगा।

शनैः शनैः यह मण्डली चीनियों के अनुकूल होने लगी। कभी-कभी लामाओं को गाली तक देते, कि ये लामा धर्म का ढोंग भर कर जनता को लूटते हैं। कभी समाज की कुरीतियों की चर्चा करते और कभी माउत्से-तुंग को जनता का महान् नेता बताते।

चीनी अधिकारी अब इन्हें यातनाएं नहीं देते थे, बल्कि चीनी शिक्षा और संचलन (परेड) सिखाने लगे।

कुछ दिनों में पूरी तरह इन्हें सेना में भर्ती कर लिया गया और पहाड़ों पर लड़ाई की शिक्षा दी जाने लगी।

कई दिन बीत गये। इन खामपा युवकों को दूसरी छावनी में भेज दिया गया।

एक दिन वीर नौरबू ने अपनी योजना के दूसरे चरण का सूत्रपात किया। प्रातः के शारीरिक कार्यक्रम (परेड) के पश्चात् जब सब लोग विश्राम करके भोजन आदि की सज्जा करने लगे तो नौरबू और उसके साथी अपने झोलों में चावल डाल और अपनी बन्दूकें लेकर सहज-भाव से हंसते, अठखेलियां करते, जंगल की ओर निकल गये। जब अन्य लोगों की आंखों से ओझल हो गये तो ऊँची पहाड़ियों पर चढ़ गये। प्रत्येक ने एक एक पहाड़ी पर खन्दक खोदी कुछ मिट्टी की दीवार खड़ी करके अपने शिविर के निकट मैदान में मोर्चों पर जम गये।

चीनी सेना अभ्यास के लिए एकत्र हुई, संचलन करते हुए शिविर से बाहर चली। जैसे ही उन पहाड़ियों के निकट पहुँची कि धांय-धांय गोली चलने लगी। वीर नौरबू

के साथी निशाना लगातेजाते और लाशें गिनते जाते। चीनी सैनिकों को भी अधिकारी की आज्ञा मिली और वे भी पहाड़ियों की ओर बढ़ने लगे। परन्तु कुछ पता न चलता कि किधर से बचें और किधर जायें। उधर पर्वत शिखरों से ताबड़तोड़ गोलियां चल रही थीं। कितने ही वृक्ष गोलियों से छलनी हो गये। कभी पत्थर लुढ़कते कभी चीनी सैनिक ही खामपा योद्धाओं की गोली का शिकार हो लुढ़क जाते।

परन्तु अब बहुत से सैनिक स्थिति को पूरी तरह समझ गये थे और सावधानी से बचकर ऊपर चढ़ने लगे थे। इतने में एक गोली नौरबू के कान के पास से होकर निकल गई। किन्तु अभी नौरबू का प्रण पूरा नहीं हुआ था। इतने में एक साथी चिल्लाया। उसके दाहिने कंधे पर गोली लगी थी। और उसने अभी ६५ ही शीश अपने इष्टदेव के चरणों में चढ़ाए थे। प्रण अधूरा था और गोली चलाने की शक्ति भी धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही थी। दूसरे साथी ने ढाढस दी 'चिन्ता न करो तुम्हारा प्रण हम पूरा करेंगे।' इधर वीर नौरबू ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और अन्तिम १०१वां चीनी मार कर गगन भेदी जयघोष किया। उसी क्षण एक साथी दम तोड़ गया। चीनी अब बहुत निकट आ चुके थे। और वीर नौरबू अपने साथी का बचा हुआ कार्य पूरा करने में लगा हुआ था।

दूसरी पहाड़ी से भी जोर से जय के नारे की गूंज सुनाई दी। जिसका उत्तर वीर नौरबू ने बड़ी जोर से एक नारे से दिया। दो वीरों

यह 'सीताराम'

यह एक मनुष्य का नाम है—बहुत साधारण मनुष्य का! वह अभी आकर मेरे कमरे में खड़ा हो गया। उस दुःख-भरे पंजर को देख कर और उसकी करुण गाथा सुनकर वेद की पोथी मेरे हाथ से छूट पड़ी और मेरा चित विह्वल हो गया। सीताराम ने कहा—"मैं कुछ दिन पहले आपके यहाँ काम कर गया था। आपने पहचाना?" मैंने कहा—"हाँ।" उसने कहा—"मैं आपका एक रुपया लेकर चला गया था। आपसे बिना कहे मुझे गाँव चला जाना पड़ा। बात यह हुई कि, मेरा जो भाई अस्पताल में था और जिसे फल खिलाने के लिए मैंने रुपया लिया था, वह अगले दिन सवेरे ही मर गया। दुःख-विह्वल हो मैं अपने गाँव चला गया।" सुनकर मैंने कहा—"गाँव में ही क्यों नहीं रहे?" उसने कहा—'वहाँ क्या करता, बाबूजी? पानी-पत्थर पड़े हैं। छोटी गृहस्थी थी। बरबाद हो गई। बहुत दुःख है। फिर उस ने अपने फटा हुआ कुर्त्ता और चादर दिखाते हुए कहा—"ये फट गये हैं। और कुछ नहीं है। अब कुछ काम करूंगा, तो नया बनवाऊंगा।"

लगभग दो महीने पहले वह इसी तरह एक दिन आया था और दीन भाव से बोला था—"मुझे दो दिन से कुछ खाने को नहीं मिला है। पहले आप कुछ खिला दीजिए और फिर काम करने को दीजिये। उसका यह वाक्य तीर की तरह मन को छेदता चला गया। अर्थशास्त्र और राजनीति, धर्मशास्त्र और नीति के सारे आदर्श मुझे कचोटने लगे।

—वासुदेवशरण अग्रवाल

ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की थी। अब वे जान हथेली में रखकर गोली चला रहे थे क्योंकि इन्हें अपने साथियों का शेष कार्य पूरा करना था। चीनी अब इतनी निकट आ गये थे कि इन्हें कूद कर संगीनों से युद्ध करना पड़ा। एक एक खामपा दस-दस चीनियों पर भारी था। कइयों को उन्होंने संगीनों के प्रहार से नीचे लुढ़का दिया। पांचों में से चार की प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी थी। नौरबू बुरी तरह घायल होकर गिर पड़ा। अन्य सब साथी वीरगति को प्राप्त हुए।

× × ×

आज १५ दिन बीत गये थे खामपाओं के जौहर को।

छावनी की सभी सैनिक टुकड़ियों को एकत्रित किया गया। तिब्बती सैनिकों से शस्त्रास्त्र छीन लिये गये थे। और चीनी सैनिक उनके पीछे पंक्तियों में खड़े थे। शृंखलाओं से बंधे हुए वीर नौरबू को सेना के बीच में से निकाल कर सामने एक वृक्ष से बांधा जाने लगा। नौरबू के चेहरे पर उल्लास था। परन्तु सभी तिब्बती सैनिक उदास थे। आज वीरता हर्षित हो उठी। नृशंसता शर्मा गई। वीर नौरबू का सीना तन गया, शेष सभी तिब्बती सैनिकों के चेहरे झुक गये। सामने कई चीनी सैनिक नौरबू की ओर बन्दूकें ताने खड़े थे। कई हृदय सिहर उठे। नौरबू ने जोर से नारा लगाया 'जय इष्ट देव' 'जय दलाई लामा'। मानो एक सन्देश--एक आह्वान था अपने साथियों को जो चीनी सेना में बलात् भरती कर लिये गये थे।

पहिली गोली चीनी अधिकारी ने छोड़ी जो शाएं करती नौरबू के सीने को पार कर गई। और दूसरे ही क्षण एक साथ कई गोलियों ने नौरबू के शरीर को छलनी कर दिया।



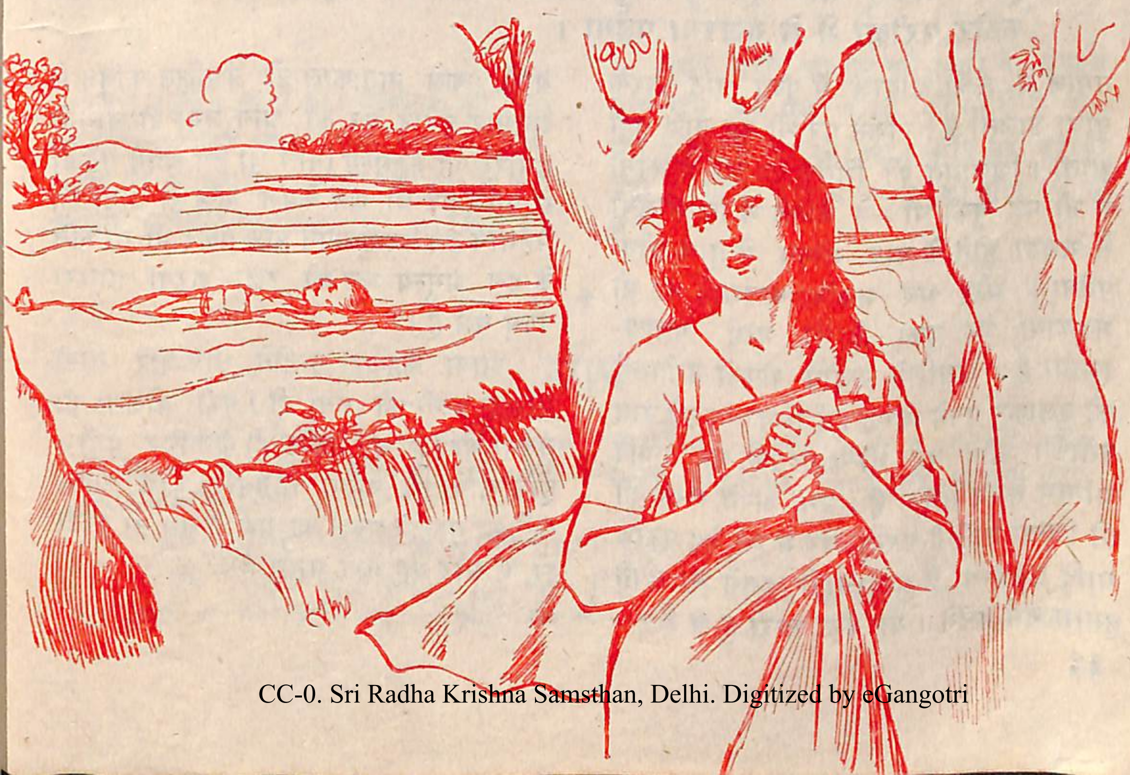
जय संस्कृति माता

—कुन्दनलाल शर्मा 'कमलेश'

दिल्ली की एक तंग और अन्धेरी गली में एक विद्वान् पंडित देवदत्त और उसकी धर्म-पत्नी धार्मिक जीवन बिता रहे थे। पंडित जी का अधिक समय धर्मग्रन्थों को पढ़ने तथा उनकी व्याख्या करने में ही बीतता था। प्रति-दिन प्रातः वे नियमानुसार संध्या तर्पण आदि करके ही घर का काम-काज प्रारम्भ करते थे। घर में कुछ ज्यादा धन तो था नहीं, तो भी गाय के होने की वजह से गुजारा अच्छा चल जाता था। गऊ माता भी तो सैंकड़ों में एक ही थी। सचमुच कामधेनु ही तो थी वह। सन्तान न होने की वजह से बछड़े और गाय को ही वे अपना सब कुछ मानते थे।

× × ×

सारे मुहल्ले में पंडित जी की प्रसिद्धि थी। हिन्दु तो उनके भक्त थे, ही मुसलमान भी उनकी तारीफ करने में थकते नहीं थे। करते भी वे क्यों न ? जबकि पंडित देवदत्त अपने सब पड़ोसियों को एक ही दृष्टि से देखते थे। शायद ही ऐसा कोई दिन होता होगा जिस दिन वे गाय का सारा दूध घर में प्रयोग करते हों। अड़ोस पड़ोस के बच्चों के पेट में ही वह



चला जाया करता था ।

× × ×

दिन प्रतिदिन पंडित जी की ख्याति बढ़ते और मुसलमानों को भी उनका भक्त बनते देख उनके पड़ोसी एक मौलवी को बहुत जलन हुई । मुसलमानों को काफिर बनने की प्रेरणा यह देवदत्त दे रहा है ऐसा उसने मीर मुहल्ला को बताया । परन्तु उसका कोई प्रभाव न होता देख, क्योंकि मीर मुहल्ला, पंडित जी को भली भाँति जानता था अब उसने दूसरा उपाय सोचा ।

मौलवी खुदाबख्श को पता था कि पंडित जी प्रतिदिन प्रातः पूजा पाठ करते हैं । अतः उसने बादशाह के दरबार में जाकर शिकायत की कि पंडित देवदत्त नित्य प्रातःकाल मेरी नमाज में ऊँची आवाज में पूजा पाठ करके बाधा डालता है । रोकने पर भी वह बाज नहीं आता । शिकायत की भिनक देवदत्त के कानों में भी पड़ चुकी थी । वे जानते थे कि मौलवी से झगड़ा होने के बाद जीवन से हाथ धोना पड़ेगा । और अब जबकि बादशाह को भी भड़काया जा चुका है तो मृत्यु अवश्यम्भावी है । इसलिये उन्होंने अपनी धर्मपत्नी को बुलाकर अपने विरुद्ध हुई शिकायत की बात बताई । और यह भी कहा कि अब उनका अन्तिम समय समीप है । उन्हें अपने मरने की तो चिन्ता नहीं है परन्तु घर में जो वेद पुराण आदि धर्मग्रन्थ हैं अत्याचारी इनसे भी अपने हमाम गर्म करेंगे । यह बड़ा भारी दुःख है ।

आखिर इसी चिन्ता में पंडित जी इधर उधर टहलने लगे । थोड़े समय के बाद अचानक उनके मुख पर प्रसन्नता की लहर दौड़ गई और वे धर्मपत्नी को बुला कर कहने लगे, "देवि ! आज तुम्हारे हाथों एक बहुत बड़ा पुण्य-कार्य होने जा रहा है । लेकिन साथ ही उस पुण्य-प्राप्ति से पहले तुम्हें एक भयानक व कठोर परीक्षा में से गुजरना पड़ेगा मुझे पूर्ण आशा है कि तुम अपने धर्म और संस्कृति की खातिर पूरी दृढ़ता और साहस से यह शुभ कार्य करोगी ।"

"महाराज ! मैं तो आपकी दासी हूँ । अपनी इच्छा जल्दी से प्रकट कीजिये" देवी बोली ।

परीक्षा की जानकारी देते हुए पंडित जी बोले, "कल प्रातःकाल ही प्रचलित कानून के अनुसार हमारे घर को आग लगा दी जायेगी हमारी यह बहुमूल्य निधि जो हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुई थी अब केवल कुछ ही घन्टों की मेहमान है । परन्तु अपने प्राण देकर भी संस्कृति के इस अमूल्य धन की रक्षा करना हमारा परम धर्म है ।"

इतना कहकर उन्होंने धीरे-धीरे सारी योजना पत्नी को बता दी । पूरी योजना का सुनना था कि वह बेहोश हो कर गिर पड़ी । होश आया तो पंडित जी दुबारा बोले, "बस, यही था तुम्हारे शब्दों का अर्थ ? तुम तो दासी हो न, और यह मेरी आज्ञा है ।"

× × ×

देवि ! आज तुम्हारे हाथों एक बहुत बड़ा पुण्य-कार्य होने जा रहा है । लेकिन साथ ही उस पुण्य-प्राप्ति से पहले तुम्हें भयानक व कठोर परीक्षा में से गुजरना पड़ेगा ।

अर्धरात्रि का समय था। देवी ने एक सफेद रंग का चूर्ण कहीं से निकाला, प्यारी गाय के दूध में आज शक्कर के बदले वह प्राण-घातक चूर्ण था। कांपते हाथों से दूध पंडित जी को दे दिया और वे गट-गट करके पी गये।

× × ×

पंडित जी ने एक बार फिर धर्मपत्नी को धैर्य बँधाया और गायत्री का जप करते हुए प्राण त्याग दिये। तेज धार वाले औजार पास ही पड़े हुए थे। माथे का पसीना पोंछते हुए उस बहादुर देवी ने शव का पेट फाड़ा और सब अन्तड़ियां और दूसरा मवाद निकाल कर उसे साफ कर दिया। अब इन अन्तड़ियों और मवाद के स्थान पर थी वह अमूल्य साहित्य-निधि जो न जाने कब से पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही थी। पेट को पहले की तरह सी दिया गया था।

× × ×

प्रभात हुई। चारों ओर पंडितजी की मृत्यु का समाचार फैल गया। उधर सरकारी कर्मचारी भी आ धमके। उनका मार्गदर्शक वही पड़ौसी मौलवी खुदाबख्श था जो कटी हुई दाढ़ी और मूँछों के बीच एक अर्थपूर्ण हँसी हंस रहा था।

× × ×

मकान को आग लगा दी गई—

पति मर चुका था और मकान जल रहा था। घर का सारा सामान उसकी आँखों के सामने भस्म हो रहा था। परन्तु देवी के मुख पर रत्ती भर भी ग्लानि नहीं थी। माथे पर एक तेज चमक रहा था। देखने वाले भी आश्चर्य-चकित थे। आखिर अर्थी उठाई गई। स्नान जमना जी ही में करवा लिया जायेगा, मृतक शरीर इस आग्रह के कारण बिना नहलाये कफन में बाँध दिया गया। श्मशान-भूमि आ गई। अर्थी रख दी गई, "मृतक की लाश को यमुना जी में बहा दिया जायेगा" यह कह कर देवी ने सब लोगों को वापिस कर दिया।

× × ×

मृतक शरीर का पेट खोल कर वे अमूल्य ग्रन्थ-रत्न अब एक कपड़े की गठरी में थे। शव यमुना में बह रहा था। और उस बहादुर देवी के चरण वीरान जंगल की ओर बढ़ रहे थे।

★ ★ ★

शौर्य

संयोगतः एक शेर और एक आदमी साथ-साथ जा रहे थे। बातों ही बातों में दोनों में मतभेद हो गया कि, कौन अधिक बलवान है? चलते-चलते उन्हें एक मूर्ति मिली, जिसमें एक ओजस्वी मनुष्य शेर के जबड़े पकड़ कर उसे चीर रहा था।

मनुष्य ने विजयोल्लास से कहा—"देख लिया न मनुष्य का शौर्य?"

"क्या? इसका निर्माता भी तो एक मनुष्य ही है—" शेर ने तेवर बदलते हुए कहा—"प्रत्यक्ष में प्रमाण की क्या जरूरत? आओ, यहीं हमारे शौर्य की परीक्षा हो जाये!" —खलील जिब्रान

नया स्वर

अकबर का राज्य ! सूरध्वज जी संडीले के अमीन हैं परन्तु साधु-संगति के सदैव भूखे रहते हैं। ऐसा कोई दिन नहीं, जब १०-२० कन्था कमण्डलुधारी उनके यहाँ जीमें नहीं और जीमने मात्र से अमीन साहब उन्हें कब फुर्सत देने लगे भला !

"महाराज ! अभी कहाँ जाएंगे, दो दिन बाद रामनवमी है। अब से इस पवित्र दिवस पर हमारी कुटी पर ही प्रसाद पायें" अमीन सूरध्वज जी बड़ी विनम्रता से कह जाते और साधु-महात्माओं की क्या ? 'बहता पानी रमते जोगी'·· जहाँ रम रहे रम रहे, चल दिये तो चल दिए। सो, महीना-पन्द्रह दिन तक फिर सूरध्वज जी के ही यहाँ उनकी 'प्रसादी' का प्रबन्ध हो रहा है।

कभी एकदम सौ दो सौ नागा साधुओं का काफिला आ पड़ता तो फिर १-२ मास की छुट्टी !

"महाराज ! चौमासा निकट है। अब से आपके 'चातुर्मास्य' का सौभाग्य सण्डीले को ही प्राप्त हो जाय तो कृतार्थ हो जाऊँ···" अमीन साहब हाथ जोड़कर नागा महन्त के समक्ष विनती कर चलते।

"अच्छा, अच्छा ! भली करी तैं; हियै होयगो म्हारो चातुर्मास। पै बच्चा सूरध्वज ! भला तोसे परबन्ध तो सपरि जायगो···?"

नागा वैरागी का 'बचन' होता और तब अमीन सूरध्वज जी सिर उठा कर उत्तर देते-

"प्रभु ! जब तक इस सेवक का शरीर है उसकी साँस चलती है—आपकी सेवा में कोई त्रुटि न हो सकेगी···"

और तब नागाओं का काफिला सण्डीले के बागों में डट जाता ! खेमे गड़ जाते। अमीन साहब का पूरा अमला साधुओं के हाथी घोड़ों, गौओं, बछेड़ियों तथा बैलों को रातिब जुटाने में व्यस्त हो उठता।

परन्तु क्या मजाल, इस सेवा-कार्य में रियाया के किसी अन्य आदमी को सताया जाय, उस पर डाण्ड-बाँध किया जाय।

आव-भगत का सब व्यय अमीन साहब के ऊपर निर्भर करता था। इस सम्बन्ध में सूरध्वज जी बहुत कठोर थे। कोई सेठ-साहूकार कभी २-४ पीपा बढ़िया घी लेकर उनकी ड्योढ़ी पर उपस्थित होता। कहता—

"श्रीमान् ! इसे स्वीकार कर लें। घर की भैंसों का है। साधु-सेवा में उपयोग होगा तो हम भी कुछ पुण्य के भागी हो लेंगे"

"नहीं सेठजी ! घी वापस ले जाइये। जब तक ये साधुमहात्मा मेरी कुटी के आतिथ्य में हैं, मैं आपकी एक लकड़ी भी न ले सकूंगा"

और सेठजी निराश हो घी के पीपे वापस उठवा ले जाते। परिणामतः यह स्थिति भी

होती कि कभी-कभी सूरध्वज जी के कोष में एक पाई नकद अप्राप्य हो रहती, राज्य की वसूलियाबी भी सेवा-सत्संग में खप जाती, फिर साहूकार से ऋण लेते परन्तु साधुओं के काफिले को कोई अभाव न होने देते। उन्हीं दिनों यदि किसी गरीब की कन्या की भाँवरें पड़नी होतीं और सूरध्वज जी को पता चलता कि उसके पिता को अर्थाभाव संकट में डाले है तो कन्या के विवाह का कुल व्यय-भार अपने कंधे पर ले लेते। यह उन के लिए एक साधारण बात थी और जो शायद उन के स्वभाव में संस्कार बनकर घुल-मिल गयी थी।

इस पर भी अमीन सूरध्वज जी की आत्मा सदा तड़फड़ाती; जैसे किसी स्वतन्त्र उड़ान भरने वाले पक्षी को सहसा पिंजरस्थ कर दिया गया हो। एक बात सदैव उनका मन कचोटा करती कि वे दिल्ली के तख्त की चाकरी करते हैं, उस तख्त की जिस पर अकबर बैठता है, मेवाड़ के प्राण राणा प्रताप सिसोदिया पर जब देखो तब फौजें भेजता रहता है, सिर्फ इस लिए कि राणा भी दिल्ली के तख्त का मुजरा करें और 'शहंशाह जलालुद्दीन अकबर' को सिर नवा कर, उससे 'खिलअत' पाकर अपने को धन्य मानें जैसे कि भगवानदास, मानसिंह सरीखे दूसरे लोग उसको अपनी बहिन-बेटियाँ देकर अपना मुंह काला कर रहे हैं..., और दूसरी ओर वही अकबर माथे पर वैष्णव साधु सदृश छापा-तिलक लगा कर 'दीन इलाही' का दम भरता है।...,

वे सोचते और उस क्षण उनके मन में आता कि "उनकी सारी सत्संग-चर्चा, साधु-समागम ढोंग है, यह कण्ठी-माला भी व्यर्थ है..., राम सदा मुझसे दूर ही रहेंगे, कंसारि कृष्ण मुझे कभी अपने पास न फटकने देंगे क्योंकि मैं तो अकबर की चाकरी करता हूँ, यह मैं जो लगान की वसूली लेकर हर वर्ष दिल्ली दौड़ जाता हूँ—क्या इस देश के गौरव का, उसके स्वाभिमान का अपमान नहीं ?" सोचते-सोचते उनका मन व्यथा से भर जाता, उनके रोम-रोम में स्वयं के प्रति घृणा आ समाती और तब रात-रात भर करवटें बदलते हुए भोर हो जाता।

इधर, कुछ दिनों से 'राम-कृष्ण' की ध्वनि में, भजनों की लय में निरन्तर उन्हें एक आह्वान सुनाई पड़ने लगा था कि—

चाह गई चिन्ता मिटी मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये ते साहन के साह॥

यह कबीर की 'बानी' थी, जो मानों अब भी भक्तों को ललकार रही थी और शहंशाहों का मजाक उड़ा रही थी कि "तू शहंशाह नहीं, कुछ भी नहीं—शहंशाह तो वे हैं, जिनको कछू न चाहिये" और तब अमीन सूरध्वज जी आत्मलीन से देर तक इस संसार से दूर, बहुत दूर हो रहते।



"सन्तन को कहा सीकरी सों काम? अ-ा-ा-ा-ह-ा-ा-"

"सन्तन को कहा सीकरी सों काम ?"

अमीन सूरध्वज जी की ड्योढ़ी पर आज एक अलमस्त वैरागी चिमटा बजाकर पद गा रहा था। पद नया था और अमीन साहब ने इसे पहली ही बार सुना था परन्तु इस क्षण उनकी हृत्तन्त्री के सब तार एकबारगी झंकृत हो उठे थे।

"संतन को···ो···ौ···कहा सीकरी काम?"

उनकी हृत्तन्त्री भी वैरागी के साथ ही दुहरा चली।

"सीकरी, जहाँ शेख सलीम चिश्ती की कुटी है, ऊँचे किस्म का फकीर है चिश्ती—उसकी दुआ से निपूता अकबर पुत्रवान् हुआ है, सलीम के जन्म-दिन पर अकबर के सूने 'हरम' में नौबत बजी है।" अमीन सूरध्वज जब दिल्ली गये थे तो यह खबर उन्हें सुनाई दे गई थी।

सीकरी अब बियाबान जंगल न रहा, अच्छा-खासा शहर सा सज गया है, अतः यह जो कुछ गा रहा है, अक्षरशः सही है। अब तो अकबर की कृपालुता के भिखारी ही वहाँ अड्डा जमाये रहते हैं। अमीर—उमराओं, वजीर, सिपाहियों और खवासों की जूतियों से उड़ी धूल जिसे फाँकनी हो, वह जाय वहां, संतों का उससे क्या वास्ता ?

"आवत-जात पनहिया टूटी, बिसरि गयो हरि-नाम······

वैरागी गाये जा रहा था और उसका चिमटा पूरी रफ्तार से झन झनाकर बज रहा था कि एक-दूसरे साधु ने सिर हिलाते हुए प्रबोधा—

"ए पद तो महात्मा सूरदास ने गायो है, एक समय बादसाहि ने हंकारो हतो पै धन्नि सूरदास, बिन्द्रावन ते न टरे, ताही समय या पद-रचना करि कै सीकरी पठाय दयो···"

"ना महात्मा जी ! जे तौ केहू और रचो है···" तीसरे साधु ने अपनी बात कही।

तभी सैंकड़ों साधुओं का एक मण्डल आ पहुँचा। खबर पाकर सूरध्वज जी उनका स्वागत करने नगर की सीमा तक दौड़े गये और यह वाद-विवाद कि यह पद सूरदास ने रचा है या किसी अन्य का है, वहीं का वहीं रह गया।

आज अमीन साहब बड़े तड़के ड्योढ़ी की कचहरी में आ विराजे हैं।

घोड़े-हाथी-बैलगाड़ियों का जमाना।

"साल समाप्ति पर है, शायद उन्हें हाल ही वसूलियाबी जमा करने दिल्ली जाना पड़े—इसलिए अभी से तैयारी में लग गये हैं।"

मुंशी जी भी बही संभालकर आ बैठे हैं और यही सोच रहे हैं कि अमीन साहब की वजनदार आज्ञा उन्हें सुनाई पड़ी।

मुंशी जी ; इस साल की वसूलियाबी का कुल कितना धन टंका है ?"

"जी, पूरे १३ लाख का जोड़ है—" मुंशी जी की स्मरण-शक्ति अच्छी है, इसलिए बही देखने की जरूरत न पड़ी।

"देखिये, ढाई सौ साधु आज यहाँ से बिदा हो रहे हैं मध्याह्न के भोजन के बाद, वे सब हिंगुलाज तीर्थ की यात्रा पर निकले हैं, इसलिए हर एक को सौ-सौ मुहरें दक्षिणा में भेंट की जाएं जिससे जाड़े-गर्मी, हर मौसम के कौपीन वे जुटा सकें और हिंगुलाज तक उन्हें भिक्षा की कठिनाई न अनुभव हो···"

"परन्तु कोष में तो एक पाई नहीं है श्रीमान् !"

"और सुनिये, जिन १२ कन्याओं के ब्याह में हम शरीक होने वाले थे, उनके नाम तीन-तीन सौ मुहरें जमा कर दीजिये और ऐसी व्यवस्था कीजिए कि कल साँझ तक उनके घर वालों को वे मिल भी जायें···

अमीन साहब का स्वर आज पहचान न पाये मुंशी जी।

"प्रभु ! इतने में तो सरकारी पेटी का सब धन निःशेष हो जायगा ······" मुँशीजी के स्वर में चिन्ता मूर्त हो उठी।

"उसका प्रबन्ध हमने अलग से कर लिया है, यह पेटी इस बार हम न ले जायेंगे, हमारा आदमी ले जायगा···" कह कर वे उठ गये। वे इस समय बहुत गम्भीर लग रहे थे इसलिये मुँशीजी कुछ कह न पाये। माथे से कलम लगाये बैठे रहे।

× × ×

अकबर का दरबार लगा है। मामले-मुकदमे पेश हो रहे हैं। सहसा खजाँची हाँफता हाँफता आता है। एक खाली पेटी जिसका बड़ा-सा ताला एक सिपाही के हाथ में थमा है दरबार में प्रस्तुत कर देता है।

"गरीबपरवर ! जां-बख्शी की जाय, इस साल सण्डीले की वसूलियाबी में महज ईंट-पत्थरों से भरी पेटी ही हमें हासिल हुई, साथ में यह पर्चा भी, जिसकी इबारत मैं पढ़ नहीं पाया।"

कहते हुए चिट दिखाता है। अकबर उस पर्चे को टोडरमल को पढ़ने को कहता है। टोडरमल एक बार पढ़ लेते हैं फिर सस्मित मुख जोर से सुना देते हैं—

तेरह लाख संडीले आये, सब साधुन मिलि गटके।
सूरजदास मदनमोहन जी, आधी रात को सटके।।

सभा में आतंक छा जाता है। शायद बादशाह उस अमीन को मौत की सजा सुनाएगा—सभी सोचते हैं।

"जहाँपनाह ! अमीन सूरध्वज ने तो अपना नाम भी बदल लिया है, 'मदनमोहन जी' का तखल्लुस (उपनाम) उन्होंने भगवान के नाम पर ही रखा है शायद, और भक्त तो वे थे ही, अब घर-बार छोड़कर कहीं धूनी रमा रहे होंगे······उन्हे सजा देना अब आपको जेबा न होगा······" राजा बीरबल के समक्ष सूरध्वज की सरल मूर्ति नाच उठी और उन्होंने उन्हें बचाने के लिए एक जोर लगा ही तो दिया।

"नहीं आलीजहाँ ! अमीन ने बगावत की है, हकूमत के साथ दगा व फरेब किया है। खजाने की पेटी में ईंट-पत्थर ! तोबा है। शरह में ऐसे गुनाह के लिए कतई मुआफी नहीं है। हुजूर ! उसे सख्त सजा दें········" मुस्लिम वजीर अपनी ही कह चले।

अकबर के सामने मुश्किल आ खड़ी हुई। वह राजा बीरबल को भी नाराज नहीं कर सकता था, इसलिये मामले को आगे के लिए टाल गया।

× × ×

पीताम्बर, कर मुरली, स्त्रवन कुण्डल झलकें।
'सूरजदास मदनमोहन' दरस देही भलकें।।

वृन्दावन की साफ-सुथरी गलियों में आज एक नया स्वर गूँज उठा है, इकतारा बजाकर एक नवीन साधु विहारी जी के मंदिर से यमुना—तट की कुँजों की तरफ जा रहा है, जहां सूरजदास के--सूरध्वज के 'मदनमोहन जी', गौवें चराते रहे ! अघासुर-बकासुरादि का हनन करते रहे हैं !

★

कभी न जिसने मानी हार

—जान गुंथर

(एक अपराजेय जर्मन-सेनापति की रोमांचक गाथा)

२ नवम्बर, सन् १९१४ की रात्रि ! पहाड़ी पर खड़े कर्नल वारबेक ने एक बार सुदूर आकाश की ओर देखा और फिर कुछ ही सौ गज दूर बंदरगाह की ओर वह देखने लगा। पसीने से कर्नल की पोशाक बिल्कुल भीग गयी थी और वह काफी चिंतित नजर आ रहा था। उसके पास बहुत कम सैनिक थे, और उच्चाधिकारियों ने जर्मन पूर्वी अफ्रीका की सुरक्षा का भार उसी को सौंप दिया था।

४४ वर्षीय जर्मन कर्नल ने बंदरगाह में लंगर डाले अंग्रजों के २ जंगी और सैनिकों से लदे १४ जहाजों को देखा। चारों ओर उन्होंने प्रकाश फैला रखा था और निश्चिंत भाव से



वे शोरगुल मचा रहे थे। कर्नल ने क्रोध और बेबसी से दाँत पीसे। शत्रुओं का यह दुस्साहस और उसके स्वयं के पास १ हजार से भी कम सैनिक ! इन सैनिकों में भी अधिकांश अफ्रीका के आदिवासी थे, जो जीवन में प्रथम बार युद्ध में भाग ले रहे थे।

रात्रि के २ बजे कर्नल वारबेक ने अपने अर्दली को बुलाया और उसे थोड़ा कीचड़ ले आने को कहा। भौचक अफ्रीकी अर्दली कीचड़ ले आया, तो उसे आदेश मिला—"मैं यह कीचड़ अपने शरीर में पोतना चाहता हूँ—तुम मेरी सहायता करो।"

अर्दली के आश्चर्य की सीमा न रही। उसे लगा, उसका 'बवाना' (साहब) पागल हो गया है।

अर्दली ने अपने 'बवाना' को रोकने की बहुत चेष्टा की—डाक्टर से दिखलाने की राय दी ; किंतु कर्नल ने उसके 'प्रलाप' की ओर कोई ध्यान नहीं दिया—वह अपनी साइकिल पर सवार हो चल पड़ा।

शहर के पहले मकान के पीछे ही कर्नल ने साइकिल रोक दी। सारा शहर बिल्कुल सूना पड़ा था। पहले-पहल जब युद्ध के कुछ आसार नजर आये थे, तभी यहाँ की जर्मन आबादी ने प्राणों के मोह में शहर खाली कर दिया था। अब तो यहाँ कुछ ब्रिटिश सैनिकों ने अड्डा जमा रखा था।

एक पेड़ से दूसरे पेड़ की आड़ ले, स्वयं को छिपा कर, यथासम्भव सावधानी बरतते हुए, कर्नल धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा। एक बार तो एक मकान की छाया में उसे तब तक दम साध कर स्थिर खड़ा रहना पड़ा, जब तक उसके कुछ ही आगे से १० सैनिकों का एक दस्ता गश्त लगाते हुए दूर न निकल गया।

अब वह वापस जाने के लिए उस स्थान की ओर बढ़ा, जहाँ उसने अपनी साइकिल छिपा रखी थी। पर मुश्किल से वह एक-दो क़दम गया होगा कि, गश्त लगाती फौजी टुकड़ी के पाँवों की आहट उसे सुनायी दी। बड़ी सतर्कता से वह पास ही के एक छोटे-से मकान के पीछे छिप गया। साँस रोक कर वह वहाँ प्रतीक्षा करने लगा।

फौजी टुकड़ी हर दो सौ गज पर संतरी नियुक्त करती हुई आगे बढ़ गयी। संयोग से, वान वारबेक जहाँ छिपा था, उस स्थान से सिर्फ ४० फुट की दूरी पर ही एक संतरी नियुक्त किया गया। कर्नल वारबेक ने कुछ सोचा, फिर अपनी पिस्तौल निकाल ली और सतर्कतापूर्वक कोने से झाँका। कुछ मिनटों तक तो वह कुछ भी नहीं देख सका; पर उसके बाद उसने रात्रि के धुँधले प्रकाश में देखा कि, शत्रु-दल का वह संतरी एक भारतीय सिख था।

१० मिनट... २० मिनट... आधा घंटा! कर्नल वारबेक प्रतीक्षा करता रहा—कब उसे सुरक्षित निकल भागने का अवसर मिले! एक बार तो उसके मन में आया कि, संतरी को गोली मार दे। वह काफी सुरक्षित स्थान पर था और वहाँ से वह आसानी से उस संतरी को गोली मार सकता था। किंतु जहाँ तक सम्भव हो, किसी के प्राण लिये बिना ही काम बन जाये, इसका उसके सम्मुख विशेष महत्व था।

कर्नल ने अपनी पिस्तौल के कुंदे को हाथ में लेकर तौला। "नहीं!"—उसने सिर हिलाया—"यह बहुत हल्का है।" तब नीचे से ढूँढ कर उसने एक पत्थर उठाया और उसे मजबूती से पकड़ कर आगे बढ़ा।

संतरी की आँखें सामने लगी हुई थीं—उसके पीछे घूम कर देखने की आशंका कम थी; फिर भी कर्नल तैयार था। उसने दायें हाथ में पिस्तौल पकड़ रखी थी और बायें हाथ में पत्थर! संतरी के पीछे घूम कर देखते ही वह उसे गोली मार देने वाला था।

आधी दूर पहुँच कर कर्नल रुका। उसने एक गहरी साँस खींची—बस, २० फुट और! हर कदम वह पूरी-पूरी सावधानी से उठाता—कहीं किसी प्रकार की आवाज न हो! एक... दो...तीन...चार और पाँचवें कदम पर सहसा कर्नल ने पिस्तौल बायें हाथ में ले ली और पत्थर दायें हाथ में। फिर वह हवा में उछला और दूसरे ही क्षण वह संतरी के ठीक पीछे था। संतरी को घूम कर देखने का अवसर मिलने के पहले ही कर्नल का दायाँ हाथ ऊपर उठ कर तेजी से नीचे की ओर, उसके सिर पर



गिरा। बिना एक शब्द मुँह से निकाले संतरी धराशायी हो गया। कर्नल ने उसकी राइफल छीन ली और पेड़ तथा मकानों की छाया का सहारा लेता हुआ तेजी से वह दौड़ चला। साइकिल तक सुरक्षित पहुँच कर उसने फिर एक नजर पीछे डाली और साइकिल पर सवार हो हवा से बातें करने लगा।

३ नवम्बर १६१४, की सुबह ब्रिटिश सैनिकों का दल किनारे पर आने लगा। वान वारबेक अपने सैनिकों के साथ छिप कर उन नावों को देख रहा था, जो किनारे पर सैनिकों को उतारने के बाद जहाजों तक जातीं और सैनिकों को लेकर फिर किनारे पहुँच जातीं।

सुबह के दस बजे तक शत्रुओं के ४ हजार सैनिक किनारे पर उतर चुके थे। इस क्षण अन्य फौजी अफ़सरों ने कर्नल से अनुरोध किया कि, तत्काल ही आक्रमण करने का हुक्म दे दे-यह मौका सर्वथा उपयुक्त है। किन्तु कर्नल ने कहा—"थोड़ी देर तक हम और प्रतीक्षा करेंगे।

दोपहर तक शत्रु-सैनिकों की संख्या ६ हजार तक पहुँच गयी। अन्य जर्मन अफसर मन-ही-मन खीझ रहे थे। कर्नल वान वारबेक ने इसे लक्ष्य किया और अपने मातहत अफसरों को बुला कर उनसे परामर्श करने लगा। काफी देर तक उन्हें समझाने-बुझाने के बाद उसने कहा–"बस, कृपया थोड़ी देर आप और प्रतीक्षा कर लीजिये।" सम्भवतः जर्मन सेना के इतिहास में पहली बार ही 'कृपया' शब्द का प्रयोग किया गया था।

३ बजे, जब ब्रिटिश सैनिक शहर में प्रवेश कर निश्चिंत हो आराम कर रहे थे, जर्मन सेना उन पर चीते की तरह टूट पड़ी। इस अचानक के आक्रमण से ब्रिटिश बौखला उठे। ब्रिटिश फौज के उत्तरी लंकाशायर दस्ते को पीछे हटना पड़ा—काफी क्षति भी उठानी पड़ी। इस अनपेक्षित आक्रमण से ब्रिटिश कमाँडर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा। तत्काल ही वह दूनी शक्ति से आक्रमण करने की तैयारी करने लगा।

इधर कर्नल वान वारबेक भी स्थिति के प्रति सतर्क था। उसने अपनी मशीनगनें उस पहाड़ी पर रखवायीं, जिसका कल रात वह निरीक्षण कर गया था। मशीनगनें अच्छी तरह छिपा कर रखी गयीं और जर्मन सैनिक मौन साधे प्रतीक्षा करने लगे।

ब्रिटिश सैनिकों ने जब आक्रमण किया, तो ऐसा लगा, मानों कर्नल बाजी हार गया। बंदरगाह में टिके ब्रिटिश जंगी जहाजों ने शहर पर तोप दागनी शुरु की और कर्नल के अफ्रीकी सैनिक घबड़ा उठे। उन्होंने जीवन में पहली बार तोप की गड़-गड़ाहट सुनी थी। दुर्भाग्य से तोप का पहला गोला भी उनसे कुछ ही दूरी पर गिरा। फलतः भय से त्रस्त हो, उन्होंने अपनी बंदूकें फेंक दीं और भागने लगे।—क्रमशः

खेद-प्रकाश

'शक्तिपुत्र' के प्रथम अंक में हमने डा. महीपसिंह की एक पुरानी रचना किसी पत्रिका से लेकर प्रकाशित की थी। कार्याधिक्य के कारण हम लेखक से उसकी अनुमति नहीं ले सके इसका हमें हार्दिक खेद है।

—सम्पादक

★

मां का दुःख, शासक का न्याय

—तिलकसिंह परमार

क्षितिज में सूर्यास्त हो रहा था। पक्षियों के झुण्ड कलरव करते हुए घोंसलों को वापिस लौट रहे थे। सन्ध्या के सूर्य की पीत आभा के स्थान पर शनैः शनैः लम्बी छायाएं छाती जा रही थीं। मन्दिरों की घन्टियाँ संगीतात्मक-स्वर में गूंज रही थीं। राजपथ के किनारे बने हुए असंख्य मन्दिरों में भक्तजन दीपक प्रज्वलित कर रहे थे। बाजार में यातायात ठसाठस चल रहा था।

मुख्य मन्दिर के बाहर अकस्मात् एकदम निस्तब्धता छा गई। अविश्वास में भी लोग आँख फाड़-फाड़ कर देख रहे थे—पवित्रात्मा अहिल्याबाई होल्कर के राज्य में एक तरुण युवक मन्दिर के पुजारी को निर्दयतापूर्वक पीट रहा था।

भूमि पर निश्चल खड़े हुए लोगों ने देखा-और वे आश्चर्य से स्तम्भित रह गए जब उन्होंने देखा कि वह तरुण कौन था।

"कौन ?"—लोग चिल्लाए। "वह?"—

दावानल की भांति सम्पूर्ण नगर में समाचार फैल गया। किन्तु किसी का साहस नहीं हुआ कि महारानी को इस सम्बन्ध में सूचित करदे।

किन्तु राज-प्रासाद में समाचार पहुंच गया; इसमें देर न लगी और महारानी समझ गईं कि कोई गम्भीर दुर्घटना हो गई है।

उसने आज्ञा दी कि, "पता करो वास्तव में हुआ क्या है !"

शीघ्र ही दूत तीव्रगति से चला गया—और अपने मुख पर गम्भीर कष्टपूर्ण मुद्रा लिए लौट आया।

रुकते - रुकते उसने इस सम्बंध में उन्हें बता दिया।

महारानी के होठ चिपके रह गए। उसने पूछा, "तरुण युवक कौन था ? तुमने उसे गिरफ्तार कर लिया है ?"

रक्षक फिर हिचकिचाने लगा। "नहीं, नहीं, महारानी ! हमने उसे गिरफ्तार नहीं किया क्योंकि—क्योंकि वह युवराज था ?"

"युवराज ? मेरा पुत्र !" अहिल्या बाई अपने स्थान से लगभग उछल पड़ीं। महान् आन्तरिक व्यथा से उन्होंने क्षणभर के लिए अपनी आंखें बन्द करलीं। किंतु जब उनको उन्होंने खोला, तो उनमें अनुत्तर कठोरता थी।

"तुमने उसे गिरफ्तार क्यों नहीं किया ?

जाओ और उसे तुरंत गिरफ्तार करो।"

रक्षक, बिना एक भी शब्द बोले, बाहर चले गए और अहिल्या बाई अपनी गद्दी पर बैठी रह गई—उसका मातृ-हृदय व्यथा से बोझिल था। उसका पुत्र उसके बिलकुल विरुद्ध ही निकला था। वह मद्यपान करता था, और सज्जनों को मारता-पीटता था, यदि वे उसे कुछ समझाते-बुझाते। किन्तु अब उसने मुख्य मन्दिर के पुजारी पर हाथ उठाया था—उस पुजारी पर जो अपनी सच्चरित्रता और सज्जनता के लिए प्रसिद्ध था।

आहिस्ता से अहिल्याबाई उठी और उस ने मुख्य न्यायाधीश को बुला भेजा।

उसने शान्तिपूर्वक कहा, "कल सर्वप्रथम इस अपराधी का विचार तुम्हें करना होगा।

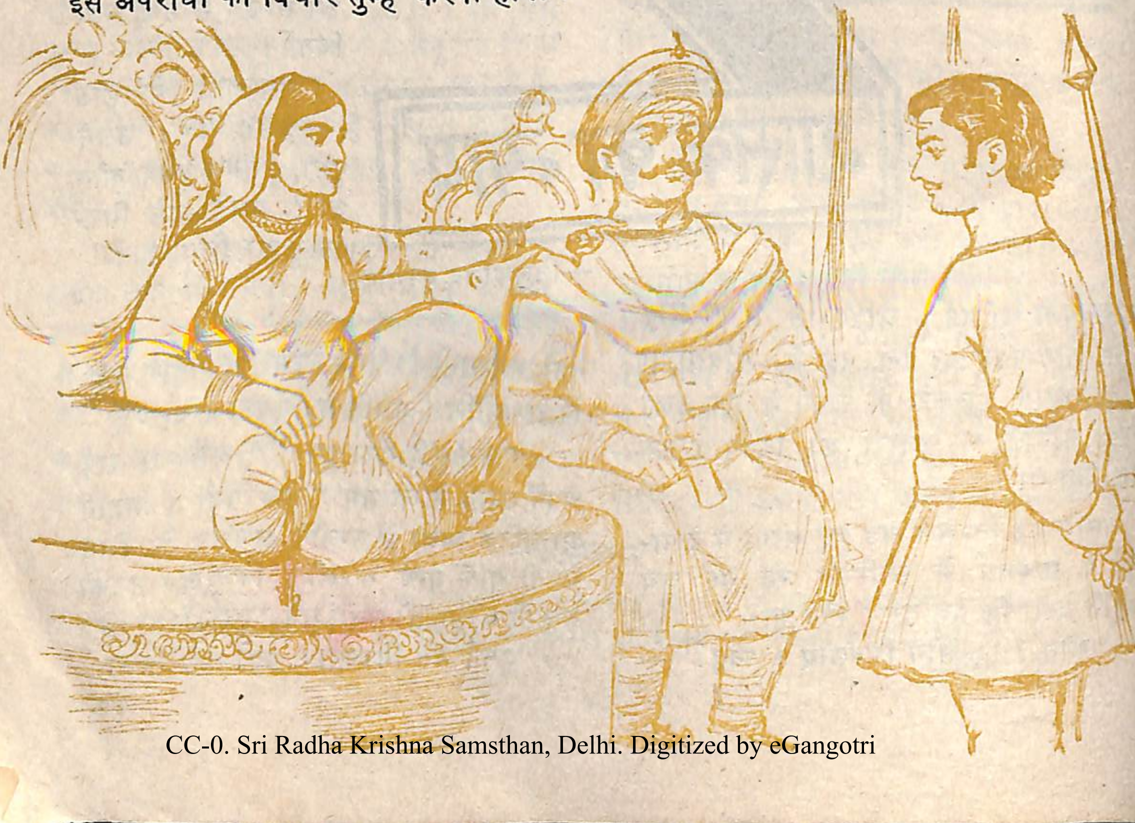
दूसरे दिन अहिल्याबाई अपने ही पुत्र का न्याय-विचार देख रही थी।

मुख्य न्यायाधीश ने निर्भीकतापूर्वक तरुण युवक की अधमताएं और अपराध गिनाए।

फिर अकस्मात् उसने कहा, "किन्तु राज्य-सिंहासन के उत्तराधिकारी को ध्यान में रखते हुए......।"

अनुल्लंघनीय निश्चय के साथ अहिल्या बाई ने उसे बीच में टोकते हुए कहा, "नहीं ! होल्कर-सिंहासन का उत्तराधिकारी कोई अपराधी नहीं हो सकता...... मैं आज्ञा देती हूँ, कि उसे मार डाला जाय... ।"

अगले दिन, जन-चौराहे पर, लोगों ने निष्पक्ष-शासक का न्याय और माता का दुःख देख लिया।



महाजनक की समुद्र-यात्रा

पं० जयचन्द्र विद्यालंकार

अब हम जिसे बरमा कहते हैं, वह तब जंगलों से ढका था और उसे तब 'सुवर्णभूमि' कहते थे। वहाँ जाने में खतरे बहुत थे, पर जैसा कि सुवर्णभूमि नाम से सूचित होता है, वहाँ के व्यापार में लाभ भी बहुत था। शायद वहाँ सोने की खानें पाई गई थीं। अंग देश की राजधानी चम्पा के लोग सुवर्णभूमि के व्यापार में सब से आगे थे।

अन्दाजन आठवीं शताब्दी ईसा-पूर्व की बात है। मिथिला में तब भी जनकों का राज्य जारी था। राजा महाजनक के दो बेटे थे। बड़े बेटे अरिष्टजनक को उसने युवराज बनाया, छोटे पोलजनक को मुख्य सेनापति। महाजनक की मृत्यु पर अरिष्ट राजा बना; उसने पोल को युवराज बनाया। बुरे लोगों ने अरिष्टजनक के कान भरे कि उसका भाई उसे मार कर राज लेना चाहता है। बात झूठी थी, पर अरिष्ट ने अपने भाई को कैद में डाल दिया। कुछ काल बाद पोलजनक कैद से छूट कर सीमाप्रदेश चला गया। फिर उसने मिथिला पर चढ़ाई की। अरिष्ट युद्ध में मारा गया।

उसकी रानी के तब ५-६ मास का गर्भ था। उसने एक पिटारी में सोना और रत्न भरे, उसे मैले चिकने कपड़े से ढका, ऊपर कुछ चावल के दाने डाले, फिर अपने देह को बदरंग बना, मले कपड़े पहन, पिटारी सिर पर रख कर निकल पड़ी। शहर में पूछती गई कि कालचम्पा को सवारी कहाँ मिलेगी। अन्त में चम्पा जाने वाले एक रथ में सवार हो वह चल दी।

मिथिला से चम्पा का रास्ता ६० योजन का था। चम्पा पहुंच रानी ने एक शाला में डेरा डाला। वहां उसे एक विद्वान् 'उदीच्य' (पंजाब की तरफ का) ब्राह्मण मिला। उस



का हाल जान वह उसे अपने घर लिवा ले गया और अपनी बहन की तरह रक्खा। रानी के बच्चा होने पर उसका नाम दादा के नाम पर महाजनक रखा गया।

बचपन में महाजनक जब ब्राह्मण परिवार के बच्चों के साथ खेलता और वे आपस में उसकी चर्चा करते तो उसे विधवा का बेटा कहते। महाजनक ने अपनी माँ से पूछा, मुझे सब लड़के विधवा का बेटा क्यों कहते हैं। तब मां ने उसे अपनी सारी कहानी बता दी।

सोलह बरस का होने पर महाजनक ने माँ से पूछा—माँ मैं मिथिला जीतूँगा, तुम्हारे पास कुछ धन भी है? माँ ने कहा—धन तो मैं काफी लाई हूँ बेटा, यह देख मेरे पास सोना, मोती, मणियाँ और हीरे हैं। महाजनक बोला-मैं इस धन में से आधा लूँगा, उससे माल ले कर सुवर्णभूमि जाऊँगा, वहाँ से और धन कमा ला कर मिथिला जीतूँगा। माँ बोली—बेटा, सुवर्णभूमि मत जा, समुद्र में बड़े खतरे हैं, मेरा धन मिथिला जीतने को काफी है, इसी से मिथिला जीत। पर महाजनक ने आग्रह किया कि मैं सुवर्णभूमि जाऊँगा ही। माँ ने उसे आधा धन दे दिया जिससे माल खरीद कर उसने जहाज में लदवाया। उस जहाज में ३५० और यात्री भी जा रहे थे।

बंगाल की खाड़ी संसार के सब से तूफानी समुद्रों में से है। उसमें हाँगोर जैसी खूँख्वार मछलियाँ भी भरपूर हैं। वह जहाज समुद्र के बीच टूट गया। उसके बिखरे पटड़ों के बीच मछलियों के खाये हुए यात्रियों के अंग लहू से लाल पानी में छितरा गये। महाजनक ने पहले जहाज के 'कूपक' (मस्तूल) को थामे रक्खा था, फिर वह अपनी बाहों से तैरने लगा। सात दिन तक वह उसी तरह खारे पानी में तैरता रहा। उसके बाद, कहते हैं, अन्तरिक्ष में एक सुन्दर जगमगाती देवी उसके सामने प्रकट हुई।

वह मणिमेखला सात दिन के लिए देवताओं की सभा में गई हुई थी, पर जब उसने देखा कि एक सदाचारी धर्मात्मा के डूबने का खतरा है, तब प्रकट हो कर उससे पूछा—यह कौन है जो समुद्र के बीच जहां तीर का कुछ पता नहीं है, हाथ मार रहा है? क्या अर्थ जान कर किसका भरोसा कर के तू इस प्रकार कर रहा है?

महाजनक ने उत्तर दिया—देवी, मैं यह जानता हूँ कि लोक में जब तक बने मुझे पुरुषार्थ करना चाहिए। इसी से समुद्र के बीच तीर को न देखता हुआ भी उद्यम कर रहा हूँ।

मणिमेखला बोली—इस गम्भीर अथाह में जिसका तीर नहीं दीख पड़ता, तेरा पुरुषार्थ निरर्थक है, तू तट पर पहुचे बिना ही मर जाएगा!

"क्यों तू ऐसा कहती है? पुरुषार्थ करता हुआ मरूँगा तो गर्हा से बचूँगा। जो पुरुष की तरह उद्यम करता है वह ज्ञातियों, देवों और पितरों के ऋण से मुक्त हो जाता है, और उसे पछतावा नहीं होता कि मैंने प्रयत्न में कोई कसर छोड़ी।"

"किन्तु जिस काम के पार नहीं लगा जा सकता, जिसका कोई फल दिखाई नहीं देता, वहाँ पुरुषार्थ से क्या लाभ—जहाँ मृत्यु का आना निश्चित ही है?"

"जो यह जान कर कि मैं पार न पाऊंगा उद्यम नहीं करता, यदि उसकी हानि हो तो देवि! उसी के दुर्बल प्राणों का दोष है। मनुष्य अपने अभिप्राय के अनुसार इस लोक में अपने कार्यों का आयोजन और यत्न करते हैं, सफलता हो या न हो। कर्म का फल निश्चित है देवि! क्या तू यहीं यह नहीं देख रही? मेरे साथी सब डूब गये और मैं तैर रहा हूँ और तुझे अपने पास देख रहा हूँ। सो मैं पुरुषार्थ करूँगा ही, जब तक मुझमें शक्ति है जब तक मुझमें बल है समुद्र के पार जाने को पुरुषकार करता रहूँगा।"

कहानी है कि इन गाथाओं को सुनते-२ मणिमेखला ने अपनी बाहें फैला दीं और महाजनक को बच्चे की तरह छाती पर लगा कर मिथिला पहुँचा दिया, जहाँ पोलजनक अपने पीछे किसी पुत्र को छोड़े बिना मर चुका था। लोगों ने महाजनक को गद्दी पर बिठाया और उसने अपनी माँ को मिथिला वापिस बुलाया।

सुराही का पानी

एक दिन रवींद्रनाथ के घर पर जाकर देखा, एक टेबुल पर काफी झुककर कुछ लिख रहे हैं। मुझे देख कर बोले—"बैठो!" उनके उस झुके हुए शरीर को देखकर मुझे ऐसा लगा, जैसे इस तरह लिखने में उन्हें काफी तकलीफ हो रही है।

मैंने कहा—"आजकल तो बाजार में तरह-तरह की टेबुलें तथा डेस्कें मिलती हैं। कुर्सी का सिरहाना लेकर भी आराम से लिखा जा सकता है।"

उन्होंने उत्तर में कहा था—"वे सब टेबुलें एवं डेस्कें मेरे पास भी हैं। किन्तु मुझे ऐसा तो इसी तरह झुककर लिखना पड़ता है। सुराही में पानी कम हो गया है न, इसलिए बिना लुढ़काये कुछ भी नहीं निकलता।

—'वनफूल'

नर-नाहर आज़ाद

—सदाशिवराव, मलकापुरकर

मुझे याद है कि एक बार अमर शहीद साथी सरदार भगतसिंह ने यों ही मजाक करते हुए कहा था अरे पंडित जी, इतना तो बता ही दीजिए कि आपका घर कहाँ है और घर पर कौन-कौन हैं, ताकि भविष्य में (यानी आजाद की मृत्यु के बाद) हमसे बन सके तो, उनकी यथाशक्ति सहायता कर सकें और देशवासियों को एक शहीद का ठीक परिचय दे सकें।

हम लोगों की दृष्टि से इसमें नाराज होने की कोई बात नहीं थी; परन्तु आजाद की आँखें एकदम बदल गईं और अजीब व्यंग्य-पूर्ण क्रोध के स्वर में वे बोले—क्यों ? क्या मतलब ? तुम्हें मेरे घर से काम है या मुझसे ? पार्टी में काम मैं करता हूँ या मेरे घर के लोग ? मेरा घर कहाँ है, मेरे घर पर कौन-कौन हैं, इस प्रकार के प्रश्न ही क्यों करते हो ?

बेचारे भगतसिंह सहम कर रह गये। हम सब भी चुपचाप सुनते रहे। आजाद ने कहा—देखो रणजीत (भगतसिंह के दल का नाम), इस बार पूछा, तो पूछा, अब फिर कभी न पूछना। न घर वालों को तुम्हारी सहायता से मतलब है और न मुझे अपना जीवन-चरित्र ही लिखाना है—यदि तुम्हीं ऐसी बातें करोगे, तो फिर गोपनीयता कैसे रहेगी ?

वे मुझे अपने साथ अपने घर अपने माँ-बाप के पास ले जा रहे थे। आजाद के इस विश्वास ने मुझे क्या बना दिया, मुझमें कितना जीवन फूँक दिया, इसे मैं कैसे लिखूँ।

भोपाल पहुँच कर हमने उज्जैन के टिकट लिए। फिर उज्जैन और नागदा से टिकट खरीद कर दोहद पहुँचे। इस शंका से कि कहीं पुलिस को पता न लग जाय, हम अपने निर्दिष्ट स्थान का टिकट न लेकर जगह-जगह जहाँ गाड़ी बदलनी पड़ती थी, टिकट खरीद लेते थे। रेलगाड़ी के दोहद स्टेशन के प्लेटफार्म पर खड़ी होने से पहले ही साथी आजाद ने प्लेटफार्म पर खड़े व्यक्ति (श्री मनोहरलाल जी त्रिवेदी) की ओर इशारा करके मुझे बतला दिया कि वे हमें लेने आये हैं। मैं सामान आदि लेकर वेटिंग-रूम में पहुँचा। मैंने मनोहरलाल जी को बतला दिया कि चन्द्रशेखर आ गये हैं और यहीं से स्टेशन के बाहर चले गये। थोड़ी देर बाद आजाद आये और उन्होंने मनोहरलाल जी के पैर छुए। मनोहरलाल जी का गला भर आया। उन्होंने आजाद के माता-पिता का कुशल समाचार दिया। मोटर-बस में बैठकर हम लोग अलीराजपुर रियासत के एक ग्राम भावरा में श्री मनोहरलाल जी के घर पहुँच गये।

आजाद के माता-पिता भावरा में ही रहते थे। आजाद ने उनके पास स्वयं जाने को कहा, परन्तु मनोहरलाल जी ने मना करते हुए कहा, मैंने उन्हें इत्तला कर दी है, दादा आते ही होंगे।

थोड़ी ही देर में दरवाजे में से मुझे दिखाई दिया कि एक ऋषिकल्प वृद्ध पुरुष, जिनके सिर और दाढ़ी के केश सफेद हो गये हैं जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाये चले आ रहे हैं। उनके रंग, आकृति और शरीर के गठन से ही मैं समझ गया कि ये आजाद के पिता हैं। साथी आजाद ने आगे बढ़ कर पिताजी के चरण छुए। पिता ने अपने इकलौते पुत्र को छाती से लगा लिया। स्पष्ट ही दीख रहा था कि पिताजी अपने आपको संयत रखने का बहुत प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु अश्रुधारा उनकी आँखों से बह ही निकली और अन्ततः वे सिसक-सिसक कर रोने लगे। दादा की सिसकियाँ बढ़ते देख कर प्रेम-विह्वल आजाद ने दो बार "दादा, दादा" कहा। अर्थ स्पष्ट था "दादा, मुँह से आवाज नहीं निकालनी चाहिये, क्योंकि लोगों को यह महसूस नहीं होना चाहिए कि मैं यहां आया हूँ, नहीं तो मेरे आने की खबर पुलिस तक पहुँच जा सकती है।"

बेचारे वृद्ध पिता ने "दादा, दादा" इन्हीं दो शब्दों से ही अपने पुत्र की संकटापन्न स्थिति को भलीभाँति समझ लिया, और वे पुनः अपने आपको संयत करने का प्रयत्न करने लगे। श्री मनोहरलाल की भी आँखों से अश्रु-धारा बह रही थी। उन्होंने दादा का हाथ पकड़ कर कहा कि अन्दर कमरे में चलो, चाची (आजाद की माता) आती होंगी। इस प्रकार भय और आशंका के वातावरण में दस वर्षों से बिछुड़े हुए पिता-पुत्र का मिलन हुआ।

थोड़ी देर बाद वृद्धा माता भी आई और सीधी कमरे में चली गई। आजाद ने माता के चरण छुए और पकड़ कर बैठा दिया। माँ पुत्र का सिर गोद में ले बिलकुल हृदय से चिपका कर चुपचाप रोती रही। उसके मुँह से शब्द नहीं निकला। वह अपने बच्चे की परिस्थिति को भली भाँति समझती थी और उसने इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा कि अंग्रेज सरकार के भेड़ियों को उसके बच्चे की गन्ध न आ जाय। बेचारी मुंह खोलकर रो भी न सकी।

इसी समय मैंने देखा कि माताजी के दाहिने हाथ की मध्या और अनामिका दो अंगुलियाँ एक धागे से बंधी हैं। मैंने उस समय कुछ ऐसा ही समझा कि कोई धागा ऐसे ही अंगुलियों से लिपट गया होगा। परन्तु जब मैं आजाद के साथ उनके घर पर गया, तो अम्मा दरवाजे के सामने गोबर से लीप रही थीं और मेरी दृष्टि फिर उन्हीं बंधी हुई अंगुलियों की ओर गई और तब मुझे स्पष्ट दिखाई दिया कि अंगुलियाँ वास्तव में किसी प्रयोजनपूर्ण रीति से बाँध कर रखी गई हैं। मैं उस समय तो चुपचाप रहा। बाद में अवसर मिलने पर एकान्त में आजाद से पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि माताजी ने एक मनौती के रूप में ये अंगुलियाँ बाँध रखी हैं कि उनका पुत्र चन्द्रशेखर, जो दस वर्ष से लापता था, घर आ जाय।

इन दिनों मेरा कार्यक्रम यही था कि सुबह शाम आजाद के साथ भावरा ग्राम की निकट-

वर्ती पहाड़ियों पर चक्कर लगाना, गले तक ठूँस कर भोजन करना और दिन हो या रात खूब सोना। मेरे सोने से आजाद भी तंग आ गये। उन्होंने कहा भी—सदू, कितना सोते हो तुम। दिन रात एक कर रहे हो। तुम्हें हो क्या गया है? इतना तो तुम कभी नहीं सोते थे।

मगर मैं करता क्या। अम्माजी जो खूब खिला देती थीं, मना करने पर भी परोसती जाती थीं। भोजन कम करने पर वे नाराज हो जाती थीं। अधिक खिलाने में ही उनको सुख मिलता था (मरते दम तक उनकी यही आदत रही)। उनके आनन्द को देखकर अपने पेट पर अत्याचार करना कुछ बड़ी बात न लगती थी। मगर इतना खा जाने के बाद सिवा सोने के और हो भी क्या सकता था। जब आजाद ने मेरे अधिक सोने पर आपत्ति की, तो मैंने कुछ कम खाने की चेष्टा की। इस पर अम्माजी नाराज!

भावरा में हम दोनों मनोहरलाल जी के मकान पर ठहरे थे। उन्होंने हमारे भोजन आदि का प्रबन्ध अपने यहां ही किया था। एक दिन हमने भोजन वहाँ किया भी। यही ठीक भी था, क्योंकि लोगों को यही बताना था कि हम दोनों मनोहरलाल जी के अतिथि हैं, चन्द्रशेखर अपने माँ-बाप से मिलने आया है, यह बात प्रकट नहीं होनी चाहिए। परन्तु अम्माजी इसे भला कब सहन कर सकती थीं कि इतने दिनों के बाद घर आये हुए अपने पुत्र और उसके मित्र को अपने हाथ से बना कर न खिलाएँ। उन्होंने आजाद को बहुत डाँटा—अपने घर भोजन न करके वहाँ क्यों किया?

आजाद ने उन्हें बहुतेरा समझाया, पर वे समझ न सकीं। फिर हमें दोनों वक्त अम्माजी के यहाँ ही भोजन करना पड़ा। मनोहरलाल जी को हमें चाय आदि पिला कर ही सन्तोष कर लेना पड़ा।

किसी कारण एक दिन तहसील में सिपाहियों की आमद-रफ्त अधिक रही। श्री मनोहरलाल के मन में शंका हुई। उन्होंने अपनी शंका आजाद से प्रकट की कि आज थाने में सिपाही अपेक्षाकृत कुछ अधिक हैं, कहीं तुम्हारे यहाँ होने की खबर तो पुलिस को नहीं लग गई। सन्ध्या का समय था। पानी रिमझिम-रिमझिम बरस रहा था। आजाद ने सोचा कि अभी भावरा से निकल जायँ। परन्तु ऐसे बरसते पानी में रात भर रहेंगे कहाँ? हम लोगों का मन दुविधा में फँस गया। मनोहरलालजी को यह बात पसन्द नहीं आती थी कि केवल शंका के ही कारण हम रात-भर जंगल में भटकते भीगते रहें। परन्तु यह भी तो सम्भव था कि शंका सच निकले और आजाद के क्रान्तिकारी कार्य-कलाप की सारी योजनाएँ माँ-बाप के प्रेमपाश के कारण यहीं ठप्प हो जायँ। अन्त में बड़े भाई के नाते मनोहरलालजी का यह सुझाव हमें मान लेना पड़ा कि रात्रि का समय जंगल में कहीं व्यतीत कर सवेरे मोटर-बस से वापस चल दें, यदि यहाँ रात्रि में आजाद के विषय में विशेष पूछताछ न हो।

सन्ध्या हो गई थी? अम्मा के घर भोजन करने जाना आवश्यक था। यदि न जायँ-तो न केवल उन्हें दुःख होगा, बल्कि शायद वे बुलाने के लिए भागती आएँगी, यह सोच

अम्मा के घर भोजन करने जाना टाला नहीं जा सकता था। फिर इसमें एक कठिनाई और थी। घर बहुत दूर न था, लगभग एक फर्लांग पर ही होगा, परन्तु रास्ता तहसील और थाने के आगे होकर ही था और हम जहाँ तक सम्भव हो उस रास्ते निकलना नहीं चाहते थे, परन्तु मजबूरी थी। हमें जाना ही पड़ा।

अँधेरा हो चुका था। सामने साफ नहीं दिखाई देता था। घर से थोड़ी दूर ही चले होंगे कि हमें दो-तीन आदमियों के बूट पहने मिले कदम से चलने की आवाज सुनाई दी। हम दोनों चौंक कर खड़े हो गये। अब हमें धुंधला सा दिखाई पड़ने लगा कि तीन सिपाही, जिन में दो के कंधों पर बन्दूकें थीं, सड़क से आ रहे हैं। आजाद ने मेरा हाथ पकड़ कर संकेत से कहा—दो

मुझे अपनी जेब से पिस्तौल निकाल कर देनी पड़ी।

—क्रमशः

प्रमाणपत्र

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पास तरह तरह के व्यापारी आया करते थे और अपनी चीजों के नमूने उपहार देकर उनसे प्रमाणपत्र लिखा ले जाया करते थे। प्रमाणपत्र का यह सामूहिक वितरण देखकर रविबाबू के निजी सचिव ने कहा—"सरकार, यदि आप ऐसा कीजिएगा तो संसार में ऐसी कोई भी चीज न बचेगी, जिसके पक्ष में आपका प्रमाणपत्र न हो जाय।"

रविबाबू थोड़ी देर तक मौन रहे; फिर गंभीर होकर बोले—"बात तो ठीक है, पर संसार की एक चीज है, जिसके लिए मैं कभी भी प्रमाणपत्र नहीं दूंगा।" निजी सचिव की उत्सुकता बढ़ी और प्रश्न की मुद्रा में रविबाबू की ओर देखने लगे। रविबाबू अपनी लम्बी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए बोले—"रेजर ब्लेड की कम्पनियों को मैं कभी भी प्रमाणपत्र न दूंगा।"

मन की पतवार

—तहा हुसैन

पहले नेत्रहीनता मेरे हृदय को रह-रहकर साल जाती थी। मात्र तीन वर्ष की उम्र में ही यह संसार मेरे लिए अंधेरा बन गया था और मैं प्रायः यह सोचा करता था कि, इस संसार पर मैं एक भार हूँ। मेरे पिताजी भी गरीब थे; अतः किस तरह आगे जिंदगी कटेगी, यह सोच कर मैं परेशान हो उठता था। उस समय मेरी उम्र प्रायः आठ साल थी। मेरे हमजोली बच्चे मकतबों में जाने लगे थे। पर मेरे लिए चुपचाप बैठे रहने के सिवा कोई चारा ही नहीं था। एक दिन मैं अपने बरामदे में बैठा यों ही कुछ सोच रहा था कि, पड़ोस की कोई स्त्री मेरे सामने से गुजरी। मुझे उस तरह बैठा देख कर सम्भवतः उसे दया आ गयी और स्नेहभरे शब्दों में वह अपने साथ की स्त्री (या पुरुष) से बोली--"ओह, खुदा ने भी बेचारे को कैसी सजा दी। इससे अच्छा तो दुनिया से उठा लेना था--सारी जिंदगी दुःख भोगने से तो अच्छा होता।" उसकी बात मेरे दिमाग में कौंध गयी। सचमुच मेरा मर जाना ही अच्छा है—बार-बार मैं इसी निर्णय पर पहुँचा। और तब, अचानक मैं वहाँ से उठा और अंदाज के सहारे कुएँ की ओर बढ़ने लगा प्राण त्याग देने का मैं निश्चय कर चुका था। पर कुएँ के मुँडेरे पर चढ़ते ही किसी ने मेरा हाथ पकड़ लिया—हाँ, हाँ, कुएँ में गिर जाओगे!" यह मुल्ला साहब की आवाज थी। मैंने कहा—"गिर जाऊँगा, तो अच्छा ही तो होगा! जिंदगी-भर दुःख भोगनेसे तो बचूँगा! मुल्ला साहब मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए मुझे मेरे बरामदे में ले गये और बैठा कर कहने लगे—"बेटे, तूने हिम्मत हार दी! माना कि, आँखें बड़े काम की चीज हैं; पर आँखों के बिना कोई तरक्की नहीं कर सकता, ऐसा नहीं है। दुनिया में बहुत-सारे बिना आँख के लोग हो गये हैं, जिनका मुकाबिला करना आँखवालों के लिए भी मुश्किल रहा है। दर-असल मन बड़ी चीज है। जिंदगी की नाव की असली पतवार वही है। बाकी पतवारें न भी रहें, तो सिर्फ एक वही पतवार नाव को घाट पर ले जा सकती है। इसलिए मन की पतवार को कस कर पकड़—उसे मत छूटने दे। खतर-नाक-से-खतरनाक तूफानों को भी मन की पतवार मजे में पार करा देती है!" मुल्ला साहब के इन शब्दों ने मुझे मानो नयी जिंदगी दी। मेरे मन में आया—मैं भी दिखाऊँ कि, बिना आँखों के भी एक आदमी कितनी बुलंदी पर पहुँच सकता है! और, मैंने अपना काम शुरु कर दिया। दूसरों के मुँह से सुनकर 'कुरान' याद किया। फिर पढ़ाई शुरु की। पी०एच०डी० की डिग्री पायी—एक नहीं, कई यूनिवर्सिटियों से। अपने देश का मिनिस्टर भी बना। दुनिया ने मुझे इज्जत बख्शी। आज सोचता हूँ कि, अगर उस दिन मन की पतवार को न सम्भालता, तो यह सब क्या हो सकता था?

प्रताप जयन्ती—(२ जून) के अवसर पर

हम कैसे पूजा करें

—गणेशशंकर विद्यार्थी

"..........महान पुरुष—निःसन्देह महान पुरुष ! भारतीय इतिहास के किस रत्न में इतनी चमक है ? स्वतंत्रता के लिये किसने इतनी कठिन परीक्षा दी ? जननी-जन्मभूमि के लिये किसने इतनी तपस्या की ? देश-भक्त, लेकिन देश पर एहसान जमाने वाला नहीं; पूरा राजा, लेकिन स्वेच्छाचारी नहीं। उसकी उदारता और दृढ़ता का सिक्का शत्रुओं तक ने माना। शत्रु से मिले भाई शक्तिसिंह पर उसकी दृढ़ता का जादू चल गया। अकबर का दरबारी पृथ्वीराज उसकी कीर्ति गाता था। भील उसके इशारे के बन्दे थे। सरदार उस पर जानें न्योछावर करते थे। भामाशाह ने उसके पैरों पर सब-कुछ रख दिया। विभीषण मानसिंह उससे नजर नहीं मिला सकता था। अकबर उसका लोहा मानता था। खानखाना उसकी तारीफ में पद्य-रचना करना पुण्य-कार्य समझता था। जानवर भी उसे प्यार करते थे, और घोड़े चेतक ने उसके ऊपर अपनी जान न्योछावर कर दी। स्वतन्त्रता देवी को वह प्यारा था, और वह उसे प्यारी थी। चित्तौड़ का वह दुलारा था, और चित्तौड़ की भूमि उसे दुलारी थी। उदार इतना कि बेगमें पकड़ी गईं और मान सहित वापिस भेज दी गईं। सेनापति फरीद खाँ ने कसम खाई कि प्रताप के खून से मेरी तलवार नहायेगी। प्रताप ने सेनापति को पकड़ कर छोड़ दिया।

"अन्तिम काल ! जान नहीं निकलती ! लेकिन, राणा जी, क्यों ? मुझे विश्वास नहीं कि मेरे बाद चितौड़ की स्वाधीनता कायम रह सके। क्यों राजकुमार अमरसिंह इतना दृढ़ नहीं ! राजकुमार दृढ़ न सही, मेवाड़ के सोलह सरदार, राणा जी, कसम खाते हैं कि हम अपने खून से स्वतंत्रता के उस बीज को, जो तूने बोया सींचेंगे। शान्ति हुई, और उस की आत्मा शरीर से बाहर हो कर स्वतंत्रता देवी की पवित्र गोद में जा बिराजी। प्रताप! हमारे देश का प्रताप ! हमारी जाति का प्रताप ! दृढ़ता और उदारता का प्रताप ! तू नहीं है, केवल तेरा यश और कीर्ति है। जब तक यह देश है और जब तक संसार में दृढ़ता, उदारता, स्वतंत्रता और तपस्या का आदर है, तब तक हम क्षुद्र प्राणी ही नहीं, सारा संसार तुझे आदर की दृष्टि से देखेगा। संसार के किसी भी देश में तू होता, तो तेरी पूजा होती और तेरे नाम पर लोग अपने को न्योछावर करते। अमेरिका में होता, तो वाशिंगटन और इब्राहिम लिंकन से तेरी किसी तरह कम पूजा न होती। इंग्लैंड में होता, तो वेलिंगटन और नेल्सन को तेरे सामने सिर झुकाना पड़ता। स्कॉटलैंड में वालेस और राबर्ट ब्रूस तेरे साथी होते। फ्रांस में जोन ऑफ आर्क तेरे टक्कर की

गिनी जाती, और इटली तुझे मेज़िनि के मुकाबिले में रखती। लेकिन, हा! हम भारतीय निर्बल आत्माओं के पास है ही क्या, जिससे हम तेरी पूजा करें, और तेरे नाम की पवित्रता को अनुभव करें। एक भारतीय युवक आँखों में आँसू भरे हुए नेत्रों सहित अपने हृदय को दबाता हुआ लज्जा के साथ, तेरी कीर्ति गा—नहीं, रो—नहीं, कह भर लेने के सिवा और कर ही क्या सकता है?"

★

अन्दर के चूहे

एक नगर सेठ के अनाज के गोदामों को चूहे लग गये और उन्होंने बोरों में से अनाज निकाल कर उन्हें खाना शुरू कर दिया।

सेठ सवेरे जाता। गोदामों को देखता और एक बोरी में सेर दो सेर अनाज निकला हुआ पाता।

गोदाम साफ-सुथरे थे। कुल ५-६ साल ही के बने हुए थे और कहीं सूराख भी चूहे का सेठ को दिखाई नहीं देता था। फिर भी अनाज रोज खाया ही जाता था।

अन्त में सेठ के दिमाग में यह आया कि निश्चय ही ये चूहे बाहर से आते है और उसको ही रोकने से मामला हल हो जायेगा। अतः सेठ ने सब गोदामों के बाहर चूहेदान लगवा दिये।

सेठ का ख्याल था कि यदि चूहे आएँगे तो डर जाएँगे या इनमें फँस जाएँगे। किन्तु दूसरे दिन जो जाकर देखा तो गोदामों का फिर भी वही हाल है और चूहेदान ज्यों के त्यों साफ। हां, एकाध चूहेदान में दो-चार छिपकलियां जरूर खेल रही थीं।

सेठ को पूरा सप्ताह अपने चोरों को रोकते हुए हो गया परन्तु सफलता न मिली।

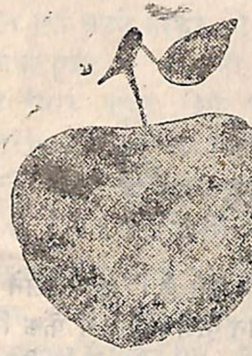
आठवें दिन गोदाम के आगे चूहेदान लगे देखकर एक देहाती रुका और उसने गोदाम देखने को आए हुए सेठ से पूछा कि साहब, क्या शहरों में हर जगह ही ऐसा होता है कि चूहे अन्दर हों और चूहेदान बाहर लगें।

सेठ ने बताया कि अन्दर कोई चूहा नहीं है, बाहर के रोकने के लिए कोशिश की जा रही हैं। गोदाम नये हैं।" परन्तु देहाती को शहरी की यह दलील पसन्द नहीं आई।

देहाती को न मानता देख सेठ गोदाम के अन्दर उसे ले गया और अन्दर जाकर देहाती ने एक ओर से बोरियां उठवानी शुरू कीं। बोरियों के बीच-बीच में से दो-चार चूहे इधर-उधर भागे।

देहाती बोरियाँ हटवाता रहा। हटवाते-हटवाते गोदाम खाली कर डाला। दो बोरियों के नीचे दस-बारह चूहों के बिल थे। देहाती ने सेठ को बताया कि बाहर के चूहों को रोकने से पहले अन्दर के चूहों को रोको।

★



अवश्य ही सेब कुछ आवश्यक विटामिन, खनिज और शक्कर प्रदान करते हैं। परन्तु ये हो सम्पूर्ण सतुलित भोजन पदार्थ नहीं कहे जा सकते। इसके लिये सेव के साथ अन्य खाद्य पदार्थों का रहना आवश्यक है। उदाहरणार्थ स्निग्ध पदार्थ-जो पूर्ण पोषण और स्वास्थ्य के लिये नितान्त आवश्यक हैं। स्निग्ध पदार्थ शक्कर से दुगुनी शक्ति प्रदान करता है।

हम अपने वनस्पति के विषय में लम्बे चौड़े दावे नहीं करते। हमारा इतना ही कहना है कि "गोल्डेन ऐरो" वनस्पति में वह सब कुछ मौजूद है जो एक अच्छे, शुद्ध, शक्तिदायक पाक माध्यम स्निग्ध पदार्थ में रहने चाहिये। यह अप्रिय गंध व रंग से सर्वथा मुक्त है। इसमें शक्तिवर्द्धक तत्व मिश्रित हैं जिनसे एक औंस पीछे ५०० कैलोरी शक्ति मिलती है। इसमें ७०० इंटरनेशनल यूनिट विटामिन "ए" और ५६ इं० यू० विटामिन "डी" प्रति औंस मौजूद हैं। इसके पिघलने का तापमान हमारे शरीर के तापमान के बराबर है। इसी से यह सहजता से पच जाता है। इसका स्टेन्डर्ड सदा एक सा रहता है। यह सीलबन्द डिब्बों में प्राप्य है जिससे मिलावट, रिसना, कीटाणुओं द्वारा नष्ट होने की सम्भावना नहीं रहती। इसीलिये आपको रसोई तक ताज़ा और विशुद्ध पहुँचता है। यह मूल्य में भी किफायती है और खर्च भी कम होता है। जब भी उत्तम वनस्पति बनाया जायगा तब वह अमृत वनस्पति द्वारा ही संभव होगा।

क्या सेव के सेवन से डाक्टर को दूर रख सकते हैं?



गोल्डेन ऐरो

वनस्पति

सुनहरी तीर
लक्ष्य भेद करता है

अमृत वनस्पति कं० लि०
गाज़ियाबाद (उ० प्र०)

4/59

बूटों की जान और शान

बिल्लो

बूट पालिश



बूट क्रीम

लाखों रोजाना प्रयोग करते हैं

दी बिल्लो बूट पालिश कम्पनी

बाड़ा हिन्दू राव, दिल्ली-६, भारत।

मोती—कुछ मिले, कुछ ढूँढे

दिव्य संपदा

सनातन गंगा के तट पर माला जप रहा था कि इतने में एक ब्राह्मण उसके पास आया और बोला—"मेरी सहायता करो, दीन हूँ।"

सनातन ने उत्तार दिया,—"मेरे पास तो अपना कहने को सिर्फ यह भिक्षा-पात्र ही है। मैं अपना सर्वस्व दान कर चुका हूं।"

ब्राह्मण बोला—"किन्तु मेरे प्रभु शिव ने स्वप्न में मुझे तुम्हारे पास आने की राय दी है।"

सनातन को सहसा ध्यान आया कि उसने नदी-तट के छोटे-छोटे कंकड़ों में से एक अमूल्य पत्थर उठाया था और सोचकर कि शायद कभी किसी को उसकी आवश्यकता पड़ जाये, उसे बालू में छिपा दिया था।

उसने ब्राह्मण को वह स्थान संकेत से बता दिया और ब्राह्मण ने आश्चर्य-चकित हो पत्थर निकाल लिया।

इसके उपराँत ब्राह्मण दिन-भर अकेले चिंतन-मग्न वहां धरती पर बैठा रहा—तब तक, जब तक कि सूर्य वृक्षों के पीछे छिप गया और ग्वाले अपने पशुओं के साथ घर नहीं लौट गये।

तब वह ब्राह्मण उठा और धीरे से सनातन के पास आया और उसने कहा—"हे स्वामी, मुझे तो उस सम्पदा का एक लघुतम अंश दे दो, जो संसार के समस्त वैभव का तिरस्कार करती है।" और उसने देखते-देखते वह मल्यवान पत्थर जल में फेंक दिया।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

एक तरफ हो जाओ !

अमृतसर के एक खत्री-भक्त का प्रसंग है। वे बड़े भगवत्-भक्त थे। बहुत दिनों से उनके मन में वृन्दावनवास की उत्कठा थी, किंतु दुकान के काम से जा नहीं सकते थे। दुविधा में न दुकान में मन लगता था, न वृन्दावन ही जा सकते थे। एक दिन वे दुकान खोलने को सड़क पर खड़े थे। उसी समय झाड़ू देने के भंगिन आयी। लालाजी को सड़क पर खड़ा देखकर भंगिन ने कहा—लालाजी एक तरफ हो जाइये।" लालाजी की आँखें खुलीं और उन्होंने सोचा—"ओहो, यह भंगिन ही मेरी गुरु है। कहती है एक तरफ हो जाओ।" और उसके तुरन्त बाद ही वे सब कुछ छोड़-छाड़कर वृन्दावन चले गये।

—प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

संत-स्वभाव

एक संत कपड़े सीकर अपनी जीविका चलाता था। एक ग्राहक, जो उससे काफी बड़ी संख्या में कपड़े सिलवाता था, मेहनताने में उसे जाली सिक्के दिया करता। संत यह जानते हुए कि सिक्के जाली हैं, चुपचाप ले लिया करता।

एक दिन संत अपने नौकर को दुकान सौंप कर बाहर गया हुआ था। इसी बीच वह ग्राहक अपने तैयार कपड़े लेने आया और हमेशा की तरह उसने जाली सिक्के दिये। नौकर ने उन्हें लौटा दिया और कहा—"ये खोटे सिक्के हैं, कृपया खरे सिक्के दीजिये।"

जब संत लौटा, तो उसे नौकर ने बताया कि एक ग्राहक आया था, वह मुझे खोटे सिक्के देकर ठगना चाहता था। संत बोला--"तुमने उससे वे खोटे सिक्के क्यों नहीं ले लिये? वह मुझे हमेशा खोटे सिक्के दे जाता है और मैं उन्हें फौरन ले लेता हूँ। उन्हें मैं जमीन में गाड़ देता हूँ। यदि मैं उन सिक्कों को स्वीकार न करूं तो तुम जानते हो, वह दूसरे लोगों को धोखे में डालेगा।"

संतों का यह स्वभाव समाज की अनुपम सेवा करता है।

—स्वामी रामदास

प्रथम पुरस्कार Rs. 15,000 ३ अशुद्धि तक

Rs. 10,000 **Rs. 5,000**

एक अशुद्धि पर २५०० रु० दो अशुद्धियों पर १५०० रु० तीन अशुद्धियों पर १००० रु०

सरताज सुबोध पहेली के तमाम सँकेत हिन्दी की प्रकाशित पुस्तकों में से लिये गये हैं। सँकेत के दो शब्द संकेत के सामने दिये गये हैं। जिनमें से एक सही शब्द है पूर्ति का शुल्क १ रु० प्रति पूर्ति है। प्रवेश शुल्क मनीआर्डर, पोस्टल आर्डर अथवा सरताज कैश वाउचर से भेजा जा सकता है मनीआर्डर की रसीद इण्डियन पोस्टल आर्डर अथवा सरताज कश वाउचर पूर्ति के साथ अवश्य भेजे काम न करें। १५ संकेतों के १५ उत्तर शब्द लिखने पर एक पूर्ति बनती है। इस हिसाब से जितनी पूर्तियाँ चाहें भेज सकते हैं। शुद्ध हल तथा विजेताओं के नाम जानने के लिये १५ पैसे के डाक टिकट अवश्य भेजें। कार्यालय में पूर्तियां पहुंचने की अंतिम तिथि २५ जुलाई १९६५ (९ बजे रात्रि) है। सही हल की घोषणा एक घन्टे बाद की जाएगी। विजेताओं की सूची फिल्म प्रभात के अंक नं० १३ में छपेगी।

अन्तिम तिथि
२५ जुलाई

सरताज सुबोध पहेली नं० ?

प्रवेश शुल्क १
रु० प्रति पूर्ति

नोट:—खाना खाली छोड़े हुए और कटे-फटे सन्देह जनक शब्द अधिक गलती वाले मुकाबले में शरीक न हो सकेंगे।

संख्या	संकेत	एक सही उत्तर है	
१	फिर भी…लोगों का बल इतिहास-प्रसिद्ध हुआ है।	उन	इन
२	वास्तव में यह ड्रामा बिलकुल…है।	सच	धोखा
३	यह…जमाने की हिन्दु नारी नही है।	पुराने	नए
४	तुम्हारे जैसे…से प्यार और फिर शादी करने की बेवकूफी मैं कैसे कर बैठी।	आदमी	जानवर
५	गलत…आदमी को नहीं करना चाहिये।	काम	हिसाब
६	तब तो…करना ही पड़ेगा।	इन्तजाम	इन्तजार
७	और मां का आशीर्वाद लेकर चलें…गे।	जाए	आए
८	वीधि वैज्ञानिक और…हो।	प्रभावकारी	आधुनिक
९	बहुत से व्यक्ति…सन्तान होने के पक्षपाती होते हैं।	जल्दी	देर से
१०	महीने की १५ ता० के बाद उसकी गांठ में एक…कौड़ी नहीं रह पाती।	फूटी	कानी
११	स्नान के बाद…करना चाहिये।	व्यायाम	आराम
१२	मद्रास की तरफ कभी मेरा…नहीं हुआ।	आना	जाना
१३	हमें यह मान लेना चाहिये कि मुल्क दो…में बंट जाए।	टुकड़ो	भागो
१४	क्यों क जवाब इस…में नहीं है।	दुनियां	जमाने
१५	उधर तालियों की गड़गड़ाहट से हाल गूंज…था।	रहा	उठा

मैने सरताज सुबोध पहेली के नियम और शर्ते पढ़ ली हैं। और मुझे स्वीकार है।

नाम और पूरा पता…………………

अपनी पूर्तियाँ और शुल्क इस पते पर भेजिये:—

'सरताज सुबोध पहेली नं० ……(SP.) २३ खन्ना मार्किट तीस हजारी देहली-६

विशेष भेंट…सर्वाधिक गलती वाले को १००० रु० विशेष इनाम दिया जायगा।

कृपया पोस्टल आर्डर सादा ही भेजें।

शक्तिपुत्र के अप्रैल और मई मास के

दोनों अंक सर्वथा समाप्त हैं ।

पाठक और अभिकर्ता बन्धु कृपया उनके लिए मांग न करें ।

—व्यवस्थापक

अपने सुझाव भेजिये

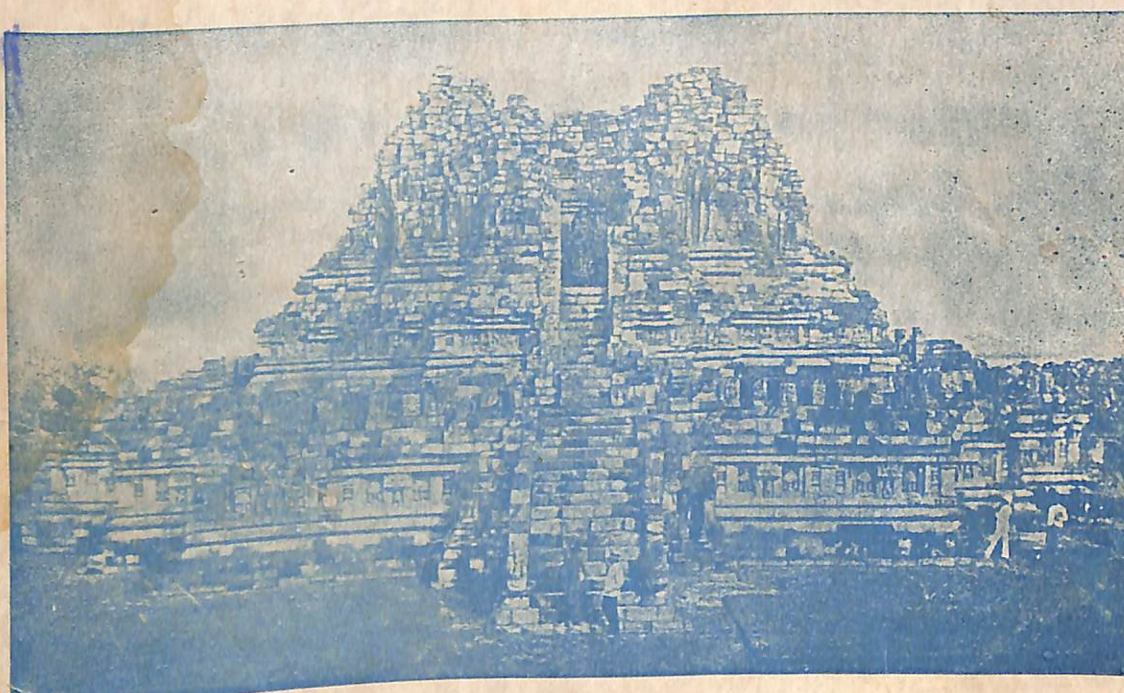
"शक्तिपुत्र" के पिछले दो अङ्कों को पढ़कर बहुतों ने हमारी पीठ थपथपाई है, बहुतों हमें प्रोत्साहन भी दिया है। वह पीठ थपथपाना सुखकर भले ही हो, मन में उस से दगुदी भी शायद होती हो किन्तु 'शक्तिपुत्र' का निरन्तर विकास होता रहे, इस निमित्त म ऐसे समस्त पाठकों को आमन्त्रित करते हैं जो अत्यन्त स्पष्टता, कठोरता और निर्ममता हमारी कमियों की ओर सदैव इंगित करते रहें। हम उनके दिशा-दर्शन का, सुझावों का दय से स्वागत करेंगे और उनके अनुसार 'शक्तिपुत्र' को सँवारने, निखारने का प्रयास भी करते रहेंगे।

हमारा विश्वास है कि 'शक्तिपुत्र' के प्रचार-प्रसार में देश भर के प्रबुद्ध, विचारशील पाठकों ने हमें जैसा अपेक्षातीत सहयोग दिया है उनका वैसा ही सहयोग 'शक्तिपुत्र' के स्तर को बनाये रखने, बढ़ाते रहने में भी उनके सुझावों द्वारा हमारे लिए सदैव सुलभ रहेगा।

—सम्पादक

विदेशों में भारतीय गौरव के प्रतीक-२

यहाँ अब कौन सिर नवाएगा ?'



ऊपर का चित्र जावा द्वीप (इण्डोनेशिया) में स्थित विश्वविख्यात मन्दिर काली लोरो जोङरङ्ग का है। इसका निर्माण नवम् शती में हुआ था। इस विराट् मन्दिर में ब्रह्मा और भगवान शिव की मूर्तियों के अतिरिक्त भित्तियों पर सम्पूर्ण रामायण के बड़े ही सजीव चित्र उत्कीर्ण हैं जो शनैः शनैः काल का ग्रास बनते जा रहे हैं।

(चित्र डा. लोकेशचन्द्र जी के सौजन्य से)